महाकोशल-साहित्य-माला—१० वाँ ग्रंथ

सेठ गोविन्ददास

के

नाटक

(आलोचना और उद्धरण)

लेखिका

रत्नकुमारी देवी 'काव्यतीर्थ'

प्रकाशक

महाकोशल-साहित्य-मन्दिर

गोपालबाग, जबलपुर

प्रथम बार] १९३९ [मूल्य १)

दो शब्द

पिताजी के नाटको पर मै कोई स्वतंत्र पुस्तक नही लिखना चाहती थी। उनके जीवन चरित के लिए मैंने उनके नाटको के कुछ उद्धरणों को छाँटा। वे इतने अधिक हो गये कि उनके जीवन चरित के साथ उनका छपना सभव न था।

मै कोई आलोचक नही हूँ अत. इस पुस्तक मे पिताजी के नाटको की ठीक आलोचना हुई है, यह कहने का मै साहस नही कर सकती। फिर भी मैंने उनके नाटकों को एक बार से अधिक पढ़ा है, उन्हे समझने का प्रयत्न किया है और उनका आलोचक की दृष्टि से अध्ययन भी किया है। यह पुस्तक उनके नाटकों को समझने मे सहायता कर सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है।

राजा गोकुलदास-महल
जबलपुर
वसन्त पञ्चमी सं० १९९५

—रत्नकुमारी

सेठ गोविन्ददास
(सन् १९३८)

आलोचना

सेठ गोविन्ददास जी ने बहुत छोटी अवस्था से साहित्य-संघ आरम्भ किया था। पहले उन्होने छोटे छोटे कुछ उपन्यास लिखे, फिर कविताएँ, फिर नाटक। उन्होने अपने 'तीन नाटक' ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा है कि अपनी बचपन की रचनाओ को वे 'खिलौना' समझते हैं। बचपन की रचनाएँ सचमुच खिलौना ही होती है। परन्तु जिस प्रकार खिलौना से खेलते-खेलते वच्चो के हृदय मे न जाने कितने नये नये विचारो का प्रवेश होता है और जो विचार आगे चलकर उनके मानसिक विकास मे बीज का काम देते हैं वही बात लेखक की आरम्भिक रचनाओ के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। उनके बचपन मे लिखे हुए उपन्यास और कविताओ को यदि छोड दिया जाय तो उनका पहला ग्रन्थ 'विश्व प्रेम' नामक नाटक है जो उन्होने सन् १९१७ मे लिखा। इस नाटक के पढ़ने से ही पता लग

जाता है कि उनमें नाटक लिखने की स्वाभाविक क्षमता थी। इसके बाद सन् १९३० तक वे कुछ न लिख सके। सन् १९३० मे जेल मे उन्होने फिर पढ़ना लिखना आरम्भ किया और सन् १९३४ तक तीन बार के जेल जीवन मे उन्होने तेरह नाटक और लिख डाले। उनके इन १४ नाटको मे 'कर्तव्य' पौराणिक, 'हर्ष' 'धुआँधार' और 'विश्वासघात' ऐतिहासिक, 'प्रकाश', 'सेवा-पथ' 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' 'दलित-कुसुम' 'स्पर्द्धा', 'बड़ा पापी कौन ?' 'ईर्षा' और 'विश्वप्रेम' सामाजिक एवं 'विकास' तथा 'नवरस' दार्शनिक है।

इनमे से 'कर्तव्य', 'हर्ष' और 'प्रकाश' पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके है। 'स्पर्द्धा' 'सरस्वती' मे और 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' 'हस' मे प्रकाशित हुए थे। 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' को प्रकाशित करने के कारण तो उस पत्र से ज़मानत तक मांगी गयी थी। और बहुत समय तक वह बन्द भी रहा। इसके बाद मे 'स्पर्द्धा' और 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए। 'विश्व-प्रेम' सन् १९१७ मे ही बड़ी सफलता पूर्वक खेला गया था। 'धुआंधार' और 'दलित कुसुम' के फिल्म बने हैं। नाटको के सिवा नाट्य साहित्य और कला पर गोविन्ददास जी ने एक गवेषणा पूर्ण निबन्ध भी लिखा है। यह उनके 'तीन नाटक' के प्राक्कथन के रूप मे 'तीन नाटक' के साथ तथा 'नाट्यकला मीमांसा' के नाम से पृथक् पुस्तिका मे भी प्रकाशित हुआ है।

कुछ काल पहले नाटक और कविता मे बडा निकट का सम्बन्ध माना जाता था। इसका कारण यह था कि नाटकों मे कविता होना अनिवार्य था, परन्तु आज परिस्थिति विल्कुल भिन्न हो गयी है। नाटककार का पद्य मे लिखने वाला कवि होना कोई आवश्यक वात नही है। पश्चिम के आधुनिक सफल नाटक-कारो मे बहुत कम इस प्रकार के कवि हैं। यथार्थ नाटक-कार का आलोचक होना आवश्यक है। आलोचना के लिए अध्ययन तथा समाज का वारीक ज्ञान होना ज़रूरी है। पर इसका यह अर्थ नही है कि हरेक आलोचक नाटककार हो सकता है। आलोचक होते हुए भी नाटक लिखने मे जो अन्य वातें आवश्यक है वे जव तक किसी व्यक्ति मे न हो तब तक वह नाटककार नही हो सकता। गोविन्ददास जी पद्य लिखने वाले कोई सुकवि नही है, वे नाटककार है। उनके नाटक उनके अध्ययन, समाज का वारीकी से निरीक्षण, प्रौढ़ विचार और कल्पना की सहायता के कारण कला के वड़े अच्छे नमूने है।

कौन सी श्रेष्ठ कला है और उस कला-जन्य वस्तु मे कौन सी श्रेष्ठ वस्तु है इस विषय मे गोविन्ददास जी ने रोमॉरोला और जान रस्किन के दो बड़े सुन्दर उद्धरण अपने 'तीन नाटक' की भूमिका मे दिये है। कला की दृष्टि से जॉच करने पर गोविन्ददास जी की कला की सृष्टि इन दोनो उद्धरणो के अनुसार ही हुई है और वह कैसी है यह जानने का सबसे

अच्छा तरीका यही है कि वे दोनों उद्धरण ही यहाँ फिर उद्धृत कर दिये जायँ।

रोमारोलाँ ने श्रेष्टकला के सम्बन्ध में अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'ज्यांक्रिस्टोफीन' में एक स्थान पर लिखा है—

"कला के लिए कला! क्या ही अच्छा धर्म है। परन्तु यह धर्म तो बलवानों का है। कला! जीवन को वैसे ही जकड़ कर पकड़ना जैसे गरुड़ अपने शिकार को पकड़ता है, उसे लेकर ऊपर उठना, गगन मण्डल की अखण्ड शान्ति में उसे लेकर उड़ जाना। इसके लिए तुम्हे सुदृढ़ पंजो, महान् पंखो और बलशाली हृदय की आवश्यकता है। परन्तु तुम हो क्या? तुम हो मकानो मे फुदकने वाली मामूली चिडिया, जिसे ज्योंही मांस का नन्हाँ-सा टुकड़ा मिल जाता है, त्योंही उसपर इधर-उधर चोंच मारकर, अपनी-सी दूसरी चिड़ियो से लड़ते हुए चें चें करती है। कला के लिए कला! रे तुच्छ मनुष्य! कला वह मार्ग नहीं है जिस पर अपने को पथिक समझने वाले सभी चल सकें। इसपर कहा जायगा कि क्यो नही, जब कि कला मे मज़ा है, जब कि उसमे सबसे अधिक मस्ती है। परन्तु याद रखो, यह वह आनन्द है जो लगातार कड़े से कड़ा युद्ध करने पर ही मिलता है—यह वह विजय-माला है जिसके पहनने का सौभाग्य बलशाली के हृदय को ही प्राप्त होता है। कला का अर्थ है—नियन्त्रित, संयमित, मर्यादित जीवन। कला जीवन का सम्राट है। सीज़र के समान

सम्राट होने के लिए सीजर की-सी वलवती आत्मा चाहिए। परन्तु तुम सम्राट होना तो दूर रहा, साधारण राजाओ की छाया मात्र हो, तुम साधारण अभिनेता हो, परन्तु इतने कुशल अभिनेता भी नही कि अपने अभिनय में अपने को भी भूल सको। जिस प्रकार ये अभिनेता अपनी शारीरिक त्रुटियो तथा दोषो के द्वारा पैसा पैदा करते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपनी मानसिक तथा आत्मिक त्रुटियो से लाभ उठाते हो। तुम अपनी तथा जनता की कुरूपता का उपयोग कर साहित्य गढ़ते हो। तुम जान बूझ कर तत्परता से अपने देश-वासियो की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बीमारियो, उनकी कायर प्रयत्न हीनता, उनकी शारीरिक सुख की लिप्साओं, उनकी कामुक मनोवृत्तियों, उनकी काल्पनिक मनुष्य-हित कामनाओ को बढ़ाकर अपना स्वार्थ साधते हो। तुम उन सभी प्रवृत्तियो को, जो इच्छा-शक्ति को कमजोर करती हैं, जो कर्मण्यता को खोखला करती हैं, उत्तेजना देते हो। तुम अपने उपदेशों से अपने राष्ट्र के मन को मुर्दा करते हो। तुम्हारे साहित्य के, तुम्हारे उपदेश के मूल मे ही मृत्यु है। तुम जानते हो, परन्तु स्वीकार न करोगे। परन्तु मैं तुमसे कहूँगा कि जहाँ मृत्यु है, वहां कला नही है। कला तो जीवन का स्रोत है। परन्तु तुम्हारे सबसे अधिक ईमानदार समझे जानेवाले लेखक तक इतने कायर हैं कि उनकी आँखों की पट्टी खुल जाने पर भी वे न देख सकने का बहाना करते हैं। वे धृष्टता पूर्वक कहते हैं—हाँ, कला के

लिए कला का सिद्धान्त खतरनाक है, ज़हरीला है, परन्तु उसमे बुद्धि है, प्रतिभा है। वाह! कितना विचित्र तर्क है—मानो किसी गुण्डे को सज़ा सुनाते हुए न्यायाधीश कहे—'यह पापी अवश्य है, परन्तु इसमे बड़ी बुद्धि है, बड़ी प्रतिभा है'।"

श्रेष्ठ कला की वस्तुओ मे कौन महान है इस सम्बन्ध में जान रस्किन लिखते हैं—

"अब मै उत्तम कला-जन्य वस्तु की व्याख्या इतने व्यापक रूप से करना चाहता हूँ, कि उसके अन्तर्गत उसके समस्त विभाग और उद्देश आ जावे। इसीलिए मै यह भी नही कहता कि वही कला-जन्य वस्तु सर्वोत्तम है जो सबसे अधिक आनन्द देवे, क्योकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित् शिक्षा देना हो और आनन्द देना न हो। मै यह भी नहीं कहता कि कला-जन्य वही वस्तु सर्व-श्रेष्ठ है जो सबसे अधिक शिक्षा देवे, क्योकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित आनंद देना ही हो और शिक्षा देना न हो। मै यह भी नही कहना चाहता कि कला-जन्य वही वस्तु सबसे अच्छी है, जिसमे सबसे अधिक अनुकरण किया गया हो, क्योकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश नवीनता का निर्माण करना हो और अनुकरण करना न हो। और मै यह भी न कहूँगा कि कला-जन्य वही वस्तु सर्वोत्कृष्ट है जिसमे सबसे अधिक नवीनता हो, क्योकि कदाचित कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश अनुकरण करना हो और नवीनता का निर्माण नहीं। मै तो उस वस्तु को कला की सबसे महान् वस्तु मानता

हूँ जो किसी भी मार्ग-द्वारा हृदय में सबसे अधिक और सबसे महान विचारों को उत्पन्न कर सके।"

इस कला की कसौटी पर खरे उतरने के लिए नाटकों में जिन गुणों की आवश्यकता गोविन्ददास जी समझते हैं, वे भी उन्होंने अपने 'तीन नाटक' की भूमिका में दिये हैं। उन्होंने लिखा है—

"नाटक में सर्व प्रथम किसी 'विचार' (Idea) की आवश्यकता है। विचार का अर्थ यहाँ साधारण विचार न होकर जीवन की कोई समस्या है। विचार की उत्पत्ति के पश्चात् उस विचार के विकास के लिए 'संघर्ष' (Conflict) अनिवार्य है। संघर्ष वाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार का आवश्यक है। वाह्य संघर्ष किसी एक व्यक्ति के साथ दूसरे व्यक्ति का अथवा किसी एक व्यक्ति के साथ समाज या राष्ट्र का अथवा पुरुषवर्ग के साथ स्त्री वर्ग का हो सकता है। आन्तरिक संघर्ष एक ही व्यक्ति के हृदय का संघर्ष है। इसे वाह्य संघर्ष से अधिक महत्व है। यह संघर्ष एक भाव के साथ दूसरे भाव तक का होता है और प्रतिक्षण इसमें परिवर्तन होता है। नाटक में, यही, मनो-विज्ञान को अपना कार्य करने का अवसर मिलता है। इस विचार और संघर्ष की संबद्धता और मनोरंजकता के लिए 'कथा' (Plot) की सृष्टि होती है। कथा बिना पात्रों के नहीं हो सकती, अतः पात्रों का प्रादुर्भाव तथा उनका चरित्र-चित्रण होता है, और चूँकि नाटक की कथा लेखक-द्वारा नहीं कही जा

सकती इसलिए पात्रो की कृति और कथोपकथन ही उस कथा के कथन के साधन हैं।

जिस नाटक मे जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित एवं मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक कृति एवं कथोपकथन होगे, वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।

इस उत्तमता और सफलता के लिए इन सब अंगो की एक दूसरे के संग मे इस प्रकार की सबद्धता आवश्यक है जिससे सारे नाटक पर 'एकता' (Universality) के वायुमण्डल की स्थापना हो सके।"

अब यहाँ उनके उच्च कोटि के कुछ नाटकों का परिचय तथा उनके कुछ उद्धरण दिये जाते है।

पौराणिक नाटक

गोविन्ददास जी का 'कर्तव्य' पौराणिक नाटक है। उसमे राम और कृष्ण की जीवन-कथाये है। इस नाटक के दो भाग है। पूर्वार्ध मे रामकथा है और उत्तरार्ध मे कृष्णकथा। नाटक मे कृष्ण को राम का ही पुनर्जन्म माना गया है। राम और कृष्ण पर आज तक न जाने कितने कवियो ने कितने कितने बृहत् ग्रन्थ लिख डाले है। राम और कृष्ण की जीवन कथाओ और उनके चरित्रो मे तो गोविन्ददास जी ने भी कोई परिवर्तन नही किया है, पर इन पुरानी कथाओ और पुराने चरित्रो को उन्होने सर्वथा नये ढग से उपस्थित किया है। यह है दोनो चरित्रो की कार्य करने की भावनाएँ और कर्तव्य करने की प्रणाली। इसीलिए इस नाटक का नाम 'कर्तव्य' है। दोनो की भावनाएँ और उन भावनाओ के अनुसार कर्तव्य करने की प्रणालियाँ एक दूसरे से ठीक विरुद्ध है। राम की भावनाओ तथा कर्तव्य-पालन मे

कर्तव्य

झिझक है, इसीलिए उन्हे अपने कर्तव्य-पालन में, वह पालन हर दृष्टि से महान होते हुए भी, पूर्ण सुख प्राप्त नहीं होता। कृष्ण की भावनाओ मे किसी प्रकार की झिझक नही है। वे अपने कर्तव्यो का निशंक होकर पालन करते हैं। उन्हे अपने कर्तव्य-पालन मे पूर्ण सुख है। इस नाटक में गोविन्ददास जी ने राम और कृष्ण दोनो के ही जीवन मे से इस प्रकार की घटनाओ को खोजकर निकाला है जो यद्यपि समान परिस्थिति की घटनाएँ कही जा सकती हैं, परन्तु समान परिस्थिति मे भी दोनो की कृतियो की भावनाएँ एक दूसरे से ठीक विपरीत हैं।

पूर्वार्ध का आरम्भ राम के राज्याभिषेक के समय से और अन्त उनके स्वर्गारोहण से होता है। उत्तरार्ध का आरम्भ कृष्ण के गोकुल से मथुरागमन और अन्त उनकी गोलोक-यात्रा से होता है। राम और कृष्ण के जीवन की सभी महत्व पूर्ण घटनाओ का इस नाटक मे समावेश हो गया है। परन्तु राम के जीवन की अत्यधिक विख्यात घटनाओ जैसे वनगमन के समय राम का लक्ष्मण, सीता, कैकेयी, कौशिल्या, आदि से संवाद, और रावण-वध अथवा कृष्ण की बृज लीलाएँ, कंस-वध आदि का नाटक मे कथा के सूत्र को क्रमबद्ध रखने के लिए उल्लेख मात्र है। गोविन्ददास जी ने उन घटनाओ का ही विस्तार से वर्णन किया है जिनमे समान परिस्थिति मे भी राम और कृष्ण की भावनाएँ तथा कृतियाँ एक दूसरे से ठीक विपरीत है। समान परिस्थति मे भी इन भावनाओ और कृतियो का

एक दूसरे के ठीक विपरीत विवेचन इस नाटक में देखते ही बनता है।

उषःकाल का समय है। राज्याभिषेक के लिए राम तैयार हो रहे हैं। उनके निकट ही सीता खड़ी हैं। राम भूषणों को धारण करते हुए सीता से कहते हैं—

"राम—(हार पहन चुकने पर कुण्डल पहनते हुए) देखना है, प्रिये, इस भारी उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने मे मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ।.................. वैदेही, किसी कार्य का उत्तरदायित्व सभालने के पूर्व यह काय जितना सरल जान पड़ता है उतना दायित्व ग्रहण करने के पश्चात नही। . ...फिर किसी कार्य को करने के पश्चात् उसके फल का शुभाशुभ प्रभाव हृदय पर पडे विना नही रहता .. .. मैथिली, आदर्श ऊँचा, बहुत ऊँचा है। प्रजा मे कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक दृष्टि से दुखी न रहे, अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए राजा को अपने सर्वस्व की आहुति देनी पड़े तो भी वह पीछे न हटे, राजा के लिए कहीं भी, किसी प्रकार की भी, बुरी आलोचना और अपवाद न सुन पडे। वैदेही, यह महान उच्च आदर्श है।"

यहीं से पूर्वार्ध का आरम्भ होता है और इन्ही भावनाओं से राम के कर्तव्य पालन का आरम्भ होता है। राम के जीवन का उद्देश्य, उद्देश्य में आदर्श, और इस आदर्श उद्देश्य के पूर्ण

होने मे जिस शंका का बीज राम के इस भाषण में दिखता है उसी को हम उनके सारे जीवन मे देखते हैं। गोविन्ददास जी ने नाटक के पूर्वार्ध मे मुख्यतः पाँच स्थलो पर राम की कृतियो के समय इन भावनाओ का दिग्दर्शन कराया है। (१) उनका वन-गमन (२) बालि का वध-काल (३) लंका विजय के पश्चात् सीता को ग्रहण करने का अवसर (४) शम्बूक-वध (५) राम का स्वर्गारोहण।

वन जाते समय राम रथारूढ़ हो राज-प्रासाद से बाहर निकल रहे हैं। अयोध्या का अपार जन-समुदाय दुःख से कातर होकर राज्य मार्ग पर खड़ा है। राज्य के ही रथ पर उन्हे अयोध्या की सीमा के बाहर तक पहुँचाने के लिए वशिष्ठ बैठे हुए है। वसिष्ठ उनसे पूछते है—

"वसिष्ठ—इस अपार जन समुदाय के बीच से कैसे निकल सकोगे राम ?"

राम पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर जाना तो चाहते है परन्तु वे भी दुःख से कातर है। राम उत्तर देते है—

"राम—आपके प्रयत्न से प्रभो ! अपने पर प्रजा का यह अत्यधिक प्रेम देख, इनके वियोग से क्या मुझे दुःख न होगा ? परन्तु पूज्यपाद पिता जी की आज्ञा का तो अक्षरशः पालन करूँगा, भगवन् !"

वालि और सुग्रीव का युद्ध हो रहा है। वृक्ष की ओट मे खड़े हुए राम वालि को अपने बाण का निशाना बनाने वाले

हैं, परन्तु युद्ध मे यह अधर्म उनके चित्त को व्यथित किये हुए है। वे अपने पास खड़े हुए लक्ष्मण से कहते है—

"राम—(बाण संभाल कर, पर फिर हाथ ढीला कर) नही नही, लक्ष्मण, इस प्रकार छिपकर मुझसे कोई न मारा जायगा। बिना यह अधर्म किये यदि जानकी की खोज नही हो सकती, यदि उसकी प्राप्ति नही हो सकती तो न हो, पर युद्ध मे यह अधर्म करना मेरे लिए सम्भव नही है।"

"लक्ष्मण—(जल्दी से) इस समय यह सोचने का समय नही है, तात, और न सीता देवी के खोज एव उनकी प्राप्ति का ही प्रश्न है; अब यह प्रश्न है जिसे आपने मित्र बनाया है, उसकी प्राण रक्षा का। शीघ्रता कीजिए, शीघ्रता कीजिए, नहीं तो वह बालि सुग्रीव के प्राण ही ले लेगा। यह मित्र के प्रति विश्वासघात होगा; धर्मात्मा के प्राण अधर्मी के लिए जायेंगे, रघुवशियो मे ऐसा विश्वासघात कभी नही हुआ।

"राम—(घबड़ाकर) पर यह तो एक ओर कूप और दूसरी ओर खाई है, वत्स। जिस समय प्रतिज्ञा हुई थी उस समय ये भाव इतने उत्कट रूप से मेरे हृदय में नहीं उठे थे।

"लक्ष्मण—(बहुत जल्दी) पर, आपके इस विचार ही विचार मे उसके प्राण जा रहे है, आर्य! आपने अग्नि को साक्षी देकर मित्रता की है; प्रतिज्ञा की है। चलाइये, चलाइये बाण, तात, नही तो मुझे ही आज्ञा दीजिए मै ही बालि का बध कर दूँ। (धनुष पर बाण चढ़ाते हैं)

"राम—नही, नही, यह कैसे हो सकता है कि मै अपना कर्तव्य न कर पाप तुम पर डालूॅ। (कुछ ठहर कर, उस ओर देखते हुए) सचमुच ही अब तो उसके प्राण कण्ठगत ही है। अच्छी बात है, लक्ष्मण, यही हो, अपने कर्तव्य की ओर इतना लक्ष्य रखते हुए भी यदि राम के हाथ से पाप ही होना है तो वही हो, लक्ष्मण वही हो।" (बाण छोडते हैं)

रावण-वध हो चुका है। वद्ध सीता अशोक बाटिका से निकल पति से मिलने झपटी हुई आ रही है। ज्योही सीता राम को स्पर्श करना चाहती है त्योही वे कहते है—

"राम—ठहरो मैथिली, ठहरो, तुम पत्नी के नाते मेरा स्पर्श करने योग्य नही हो।

[सीता स्तंभित हो जाती हैं, लक्ष्मण आश्चर्य से एक टक राम की ओर देखने लगते हैं। सारा जनसमाज चौंक पडता है। निस्तब्धता छा जाती है। कुछ देर पश्चात् राम धीरे धीरे बोलते हैं।]

"बन्धुओ, जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्तव्य था, यदि मै यह न करता तो कायर कहलाता, सूर्यवश के निर्मल आकाश मे मै धूमकेतु के तुल्य हो जाता, अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर। मैने आप लोगो की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, सूर्यवश की प्रतिष्ठा रह गई; पर, पर-गृह मे रही हुई स्त्री का, चाहे वह मुझे प्राणो से प्रिय क्यो न हो, ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है; यह धर्म की,

मर्यादा और नीति की सत्ता का उल्लंघन होगा। जिस मर्यादा के बाहर मै बाल्यावस्था से ही कभी नही गया हूँ और जिसके लिए मै चौदह वर्ष को वन हो आया हूँ, उस धर्म और नीति की मर्यादा का उल्लंघन मेरे लिए असम्भव है।"

सीता अग्नि-परीक्षा का प्रस्ताव करती है। राम उत्तर देते हैं—

"राम—मैथिली, यदि अग्नि भी तुम्हे भस्म न कर सकी, तो मै तुम्हें अवश्य ग्रहण कर लूँगा।"

वसिष्ठ की आज्ञा से शूद्र तपस्वी शबूक का वध करने राम दण्डकारण्य मे जाते हैं। वे शबूक से तप छोड़ने का अनुरोध करते हैं। उस समय का शम्बूक और राम, तथा राम और लक्ष्मण का सवाद श्रवण करने योग्य है।

"शम्बूक— .. ..राम, यह विवाद निरथक है। मै योग-बल के कारण जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म मे समाज की अनुचित मर्यादाएँ भी न टूटेगी। तुम्हारा यह जन्म मर्यादाओ की रक्षा के निमित्त हुआ है, तोड़ने के निमित्त नही। मै अपना सकल्प न छोड़ूँगा, तुम अपना काम करो, इस हत्या के पश्चात् भी मुझे तो मोक्ष ही मिलेगा।

[राम उसका भाषण सुन गहरे सोच में पड जाते हैं। इधर उधर टहल एक ओर हट लक्ष्मण से कहते हैं।]

"राम—यह अब कैसा रहस्य है, वत्स ! मर्यादा का उल्लघन सचमुच ही मेरे लिए असम्भव है। इस शूद्र के कथन

में मैं भारी सत्य देखता हूँ। पर, फिर भी इसे इसी प्रकार छोड़ इस हत्या से विमुख होने में मुझे ऐसा भास होता है कि मेरा राज्य-कर्तव्य भंग हो रहा है, धर्म की मर्यादा टूट रही है। लक्ष्मण, लक्ष्मण, यह सब क्या है? ताड़का की स्त्री-हत्या करना इसलिए कर्तव्य था कि वह दुष्टा थी तथा ऋषियों को कष्ट देती थी, बालि का अधर्म से भी निधन करना इसलिए कर्तव्य था कि वह अधर्मी था, मित्र से उसके वध करने की मैं प्रतिज्ञा कर चुका था और इस निःशस्त्र तपस्वी की हत्या? आह! वह इसलिए आवश्यक है कि शूद्र का तपस्या करना प्रचलित धर्म के विरुद्ध है, जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व मैंने ग्रहण किया है।

"लक्ष्मण—हाँ, महाराज, ऐसी ही समस्या है।

"राम—ओह! आज के समान संकल्प-विकल्प तो हृदय में कभी नहीं उठे। न जाने राम के हाथ से अभी क्या-क्या होना बँदा है। (कुछ ठहरकर) जो कुछ हो, धर्म मर्यादा की रक्षा करना मेरा तो कर्तव्य है, चाहे यह तपस्वी हो अथवा निःशस्त्र। यह तपस्या नही छोड़ना चाहता, अतः इसे मारने के अतिरिक्त मेरे लिए और कौन मार्ग है? कोई नही—लक्ष्मण, कोई नही। . . . (तलवार निकाल, आगे बढ़, शंबूक पर प्रहार करते हुए) आह! लक्ष्मण, आह! लक्ष्मण, यह कैसी विडम्बना है? यह कैसा कर्तव्य है?"

सीता का पृथ्वी-प्रवेश हो चुका है और राम को लक्ष्मण का

भी त्याग करना पड़ा है। लक्ष्मण इस त्याग के कारण सरयू मे प्रवेश कर देह त्याग करते हैं। उनकी चिता पर उर्मिला सती होना चाहती है। राम अपने अन्य भाइयो, वसिष्ठ तथा अयोध्या के पुरवासियो के साथ स्मशान भूमि मे उपस्थित हैं। अब राम से अपना शोक नही सहा जाता। वे रो पड़ते है। यहाँ उनका और वसिष्ठ का सवाद राम के सारे चरित्र को समझने के लिए मननीय है।

"वसिष्ठ—शोक नही, राम, शोक नही। तुमने तो ससार के सम्मुख मनुष्य-जीवन का ऐसा आदर्श उपस्थित किया है, जैसा आज पर्यन्त किसी ने नही किया। कर्तव्य के लिए तुमने राज्य छोड़ा, परम प्रिय सती-साध्वी पत्नी का चिर वियोग सहा और अन्त मे प्राणो से प्यारे भ्राता को भी खो दिया। अगणित स्वार्थों को त्याग तुमने प्रजा को कर्तव्य का मार्ग दिखाया है। राम, राम-राज्य के समान राज्य कभी नही हुआ, जिसमे प्रजा को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कोई भी क्लेश कभी नही पहुँचा।

"राम— .. मेरे सम्बन्ध मे आपने जो कहा वह ठीक हो सकता है, नाथ, परन्तु मैने यह सब स्वय को खोकर पाया है। ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि अब तक मेरे मन मे है, वालि को अधर्म से मारने की लज्जा से अब तक मेरा हृदय लज्जित है, नि शस्त्र शम्बूक के वध से अब तक मेरा अन्तःकरण व्यथित है, फिर पिता की मृत्यु का मैं ही कारण हूँ, पत्नी को

मेरे कारण क्लेश भोगना पड़ा, अन्त में इस भ्राता ने भी, कैसे भ्राता ने, प्रभो, जैसा भ्राता आज पर्यन्त किसी ने नही पाया मेरे ही कारण अपने प्राण त्याग किये, मेरी कृति के ही फलस्वरूप यह वधू उर्मिला मेरे सम्मुख, मेरे जीवित रहते, सती होने जा रही है। नाथ, मै समझता था कि कर्तव्य-पालन से संसार को सुखी करने के संग मनुष्य स्वयं भी सुखी होता है। पर नही, यह मेरा भ्रम ही निकला; मै तो सदा दुःख से पीड़ित रहा, भगवन्।

"वसिष्ठ—कर्तव्य-पालन से स्वय को सुख प्राप्त होता है, राम, अवश्य होता है और वह सुख अनन्त होता है, परन्तु जब तक कर्म के सुफल और कुफल का प्रभाव हृदय पर पड़ता है तब तक वह सुख नही मिल सकता। निष्काम कर्म कह देना बहुत सरल है, पर इस स्थिति का अनुभव एक जन्म मे नही, अनेक जन्म के पश्चात् बिरला मनुष्य ही कर सकता है; वही जीवन मुक्त की अवस्था है, जहाँ द्वन्द्व नही रह जाता, वहाँ मनुष्य स्वय और सकल विश्व मे भिन्नता का नही, किन्तु समानता का अनुभव करता है। जीवन रहते कर्म करना ही पड़ता है, अतः इस जीवन मुक्त अवस्था मे ऐसे व्यक्ति से विश्व के कल्याणकारी कृत्य आप से आप होते रहते है और इनको करने मे ही उसे सुख मिलता है। पर लो, राम, इस समय तो इस समय के कर्तव्य का पालन करो। लक्ष्मण के पुत्र यहाँ नही है अतः शास्त्रानुसार ज्येष्ठ अथवा लघुभ्राता ही अग्नि सस्कार कर सकता

है। तुम्हे और शत्रुघ्न को ही यह अधिकार है, अतः लो इस समय का कर्तव्य पूर्ण करो।

"राम—यह भी करना होगा, भगवन्, यह भी? पर नही प्रभो, नही, शत्रुघ्न ही यह करें। अब तो सहा नही जाता, नाथ, असह्य हो चुका। इस क्षीण देह और भग्न हृदय पर यह अन्तिम चोट थी। (दोनों हाथों से हृदय को संभालते हुए) हृदय मे अत्यन्त पीड़ा हो रही है, देव, अत्यन्त। (सामने देख चौंकते हुए) ठहरिये, ठहरिये; देखिये, देखिये; वह सामने कौन है? देखिये, प्रभो, वह सामने से कौन मुझे बुला रहा है? आप कहते हैं न कि कर्तव्य पालन से अनन्त सुख की प्राप्ति एक जन्म मे न होकर अनेक जन्म मे होती है, आप कहते है न कि कर्म के सुफल और कुफल के प्रभाव का हृदय पर पडना एक जन्म मे नही अनेक जन्म के पश्चात् मिटता है, देखिये, देखिये, वह कहता है कि इस जन्म का मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका। वह मुझे शीघ्र, शीघ्राति-शीघ्र बुला रहा है। अब मेरा भी यहाँ क्या रह गया है? अन्तिम अवलम्ब लक्ष्मण भी चले गये, नाथ, मै भी क्यों यह दु सह दुःख सहता रहूँ? जाता हूँ, जाता हूँ, भगवन, पति के संग स्त्री ही न सती होगी, भ्राता का शव भी भ्राता के सग ही जलेगा।"

उत्तरार्ध भी उपःकाल से ही आरम्भ होता है। मथुरा मे अक्रूर कृष्ण को लेने के लिए गोकुल आये हैं। कृष्ण के व्रज-गमन के कारण समस्त व्रजवासियो को महान दुःख है, परन्तु

कृष्ण को नहीं। कृष्ण तो उस परिस्थिति मे भी अपनी मुरली बजा रहे हैं। बालक कृष्ण और राधा के सवाद से कृष्ण और राम की मूल भावनाओ का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

"राधा—तुम महानिर्मोही हो, महानिष्ठुर हो, कृष्ण, तुम्हारे हृदय नही पत्थर है।

"कृष्ण—यदि आसक्ति न रहने के कारण मनुष्य हृदयहीन कहा जा सकता है, तो तुम मुझे ऐसा कह सकती हो, पर मै तो अपने को ऐसा नही मानता, राधा! क्या मै हरेक को सुख पहुॅचाने का सदा उद्योग नही करता? मेरी अवस्था का कोई बालक ऐसा करता है? परन्तु हॉ, इन सब कृत्यो के करने ही मे मुझे सुख मिल जाता है; इनमे मेरी आसक्ति नहीं है, फल की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं जाती। फिर मै देखता हूॅ कि जीवन मे कुछ ऐसी घटनायें होती है, जो निसर्ग से प्रेरित जान पड़ती हैं, मनुष्य यदि चाहे तो भी उन्हे नही रोक सकता, कभी कभी वह रोकने का प्रयत्न करता है और उल्टा दुःख पाता है, एवं वह कार्य भी नहीं रुकता। मेरा मथुरागमन भी मुझे ऐसा ही भासता है; अतः मै उसके आड़े नहीं आना चाहता।

"राधा—तुम्हारी सारी बातें कभी मेरी समझ मे नही आती, पर हॉ, कुछ कुछ समझ लेती हूॅ। इतना मै जानती हूॅ कि तुम हम लोगो पर उतना प्रेम नहीं करते जितना हम तुम पर करते हैं।

"कृष्ण—यह नही है, राधा, तुम लोग किसी पर अधिक प्रेम करती हो, किसी पर कम और किसी पर सर्वथा नही, वरन् किसी-किसी पर शत्रुता भी रखती हो, मुझ मे ऐसा नहीं है; यही अन्तर है मै सभी पर प्रेम करता हूँ और एकसा।

"राधा—(सिर झुका, कुछ सोच और फिर सिर उठाकर) अब तो तुम पकड गये; जिन दुष्टो को तुमने मारा उनपर भी प्रेम करते थे ?

"कृष्ण—हाँ, उन पर भी।

"राधा—(आश्चर्य से) जिनको मारा उन पर प्रेम! कैसी बात करते हो, कन्हैया!

"कृष्ण—हाँ, राधा, उन पर भी प्रेम, उन पर भी। वे इतने दुष्ट थे कि अपनी दुष्टता के कारण स्वय दुःख पाते थे। उनका इस जन्म मे सुधार असम्भव था, अतः मैने उनका, उनके उस शरीर से उद्धार कर दिया।

"राधा—तो तुम्हारे लिए सभी एक से है, क्यो ? फिर न जाने हम ही लोग तुम पर क्यो प्राण दिये देते है।

"कृष्ण—तुम्हारी इस कृति मे भी हानि नही है, राधा, पर ऐसी परिस्थिति मे बिना एक बात के तुम्हे सच्चा सुख कभी नही मिलेगा।

"कृष्ण—(उत्कंठा से) वह क्या, सखा ?

"कृष्ण—तुम अपने को ही कृष्ण क्यो नहीं मान लेती ?

पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को मानने लगो तथा भेद-भाव से रहित हो उसी की सेवा मे दत्तचित्त हो जाओ। सेवा मे तो प्रयत्न की तो आवश्यकता ही न होगी क्योकि भेदभाव के नाश होते ही जब अपने और अन्य मे समता का अनुभव होने लगेगा तब जिस प्रकार अपनी भलाई मे दत्तचित्त रहना स्वाभाविक होता है उसी प्रकार अन्य की भलाई मे भी दत्तचित्त रहना स्वभाव हो जायेगा। और इसके अतिरिक्त अन्य कार्य ही अच्छा न लगेगा।

"राधा—(आश्चर्य से) क्या कहा? राधा अपने को कृष्ण मानने लगे और फिर सारे संसार को कृष्ण! तुम क्या अपने को राधा और सारे संसार को राधा मान सकते हो?

"कृष्ण—मै तो अपने को कृष्ण और सारे ससार को कृष्ण मानता हूँ, पर हाँ, यदि मुझे अपने को राधा और सारे ससार को राधा मानने मे आनन्द मिले तो मै यह भी मान सकता हूँ। तुम कहती हो न कि तुम्हारे हृदय में मुझ पर अत्यधिक अनुराग है इसी से मैने कहा कि तुम अपने को और सारे विश्व को कृष्ण मान लो।

"राधा—(कुछ सोचकर) मुझसे तो ऐसा नही माना जाता।

"कृष्ण—जब तक नहीं माना जाता तब तक दुःख ही रहेगा।

"राधा—पर, कौन—कौन ऐसा मान सकता है?

"कृष्ण—बहुत कम लोग, इसीलिए ससार मे अधिक दुःखी दिखते है।

"राधा—पर मै मानूँ कैसे, सखा? इसका भी उपाय बताओ; मै कह भी दूँ कि मान लिया तो क्या होता है?

"कृष्ण—हाँ, कहने से तो कुछ नही होता, उसका अनुभव करना चाहिए, यह अभ्यास से न होगा तो अनेक जन्म के अभ्यास से सही।

"राधा—यह तुम्हे अनुभव होता है।

"कृष्ण—हाँ, होता है।

"राधा—कब से?

"कृष्ण—जब से मुझे सुधि है।"

गोविन्ददास जी ने नाटक के उत्तरार्ध के भी पाँच ही स्थल कृष्ण की भावनाओ के दिग्दर्शन के लिए चुने हैं (१) उनका मथुरा-गमन, (२) जरासिन्ध और कालयवन के मथुरा आक्रमण पर उनका युद्ध से पलायन, (३) प्रागज्योतिप पुर मे भौमासुर के बध के पश्चात् उसके यहां रोकी हुई राजकुमारियो के ग्रहण करने का अवसर, (४) महाभारत मे छल से नि.शस्त्र कराकर भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि का बध और (५) कृष्ण का स्वर्गारोहण—

राम के जीवन में इसी प्रकार के अवसरो पर की गयी कृतियो के समय राम की भावनाओ के ठीक विपरीत कृष्ण की भावनाएँ है।

मथुरागमन के अवसर पर कृष्ण और बलराम अक्रूर के साथ रथ पर बैठे हुए जा रहे है। इस समय कृष्ण और बलराम का संवाद होता है—

"बलराम—(दुःखित स्वर से) कृष्ण, व्रजवासियो का विरह देख मेरी तो छाती फटी जाती है। नन्द बाबा और यशोदा मैया कितनी दुःखी थी। हाय ! इस व्रज की एक-एक बात आठो पहर और चौसठो घड़ी स्मरण आवेंगी।

"कृष्ण—(मुस्कराते हुए) पर, आर्य, इससे क्या लाभ होगा ? मेरा तो मन है कि जो कुछ सामने आवे उसे करते जाइये और पीछे की बाते भूलते।"

जरासिंध और कालयवन के मथुरा आक्रमण के समय कृष्ण और उद्धव का वार्तालाप होता है—

"कृष्ण—मै युद्ध नहीं करूँगा, भागूँगा।

"उद्धव—(आश्चर्य से, चौककर) आप हँसी तो नहीं कर रहे हैं ?

"कृष्ण—नही, मै नितान्त गभीर होकर कह रहा हूँ।

"उद्धव—आप युद्ध छोड़कर भागेंगे, इसका क्या अर्थ ?

"कृष्ण—युद्ध छोड़कर भागने का अर्थ युद्ध छोड़कर भागना ही हो सकता है; कोष मे एक-एक शब्द का अर्थ देखने से भी इस वाक्य का और कोई अर्थ नही निकलेगा। ....

"उद्धव (खीझकर) पर युद्ध मे भागना अधर्म है, यदुनाथ।

"कृष्ण—क्योकि अब तक लोग उसे अधर्म कहते है।

"उद्धव—हॉ किन्तु ..   ।

"कृष्ण—(बात काटकर) किन्तु-परन्तु कुछ नही। प्रचलित ातो के विरुद्ध अच्छी बात भी करना लोगो को अधर्म दिखता है। देखो, उद्धव, धर्म का काम लोक-रक्षा है। यदि जरासिंध देश जीतने के लिए युद्ध करने आता होता तो देश की रक्षा करने के निमित्त युद्ध करना अनिवार्य था। इसी प्रकार यदि किसी सिद्धान्त की रक्षा के लिए युद्ध आवश्यक होता तो भी युद्ध करना ही पड़ता, क्योकि स्थायी रूप से लोक-रक्षा सद् सिद्धान्तो से ही हो सकती है, परन्तु जरासिंध केवल मेरे व्यक्तिगत द्वेष के कारण बार-बार आक्रमण करता है। कालयवन को भी वही उकसाकर लाया है। जब तक वह मुझे एक बार नीचा न दिखा लेगा, तब तक यह रक्तपात बन्द न होगा। यदि एक मेरे नीचा देख लेने से इतने जन और धन की रक्षा होती है तो मेरा नीचा देखना ही धर्म है, अतः इस समय युद्ध करना धर्म नही, पर, देश के जन तथा धन की रक्षा के निमित्त युद्ध मे भागना ही धर्म है।

"उद्धव—परन्तु, यदुनाथ, इससे लोग आपको कायर कहेंगे।

"कृष्ण—(मुस्करा कर) मुझे लोगो के कल्याण की चिन्ता है या इसकी कि मुझे वे क्या कहेंगे? मै युद्ध मे भागूँगा,

अवश्य भागूँगा।... . शूरसेन देश की रक्षा का, इस रक्तपात और मारकाट के निवारण का, अपार जन और धन के बचाने का और कोई उपाय नही है।"

प्रागज्योतिषपुर मे भौमासुर को मारने के पश्चात् कृष्ण बन्धन से मुक्त राजकुमारियो से कहते है—

"कृष्ण—राजकुमारियो, मैंने तुम लोगो के भाषण सुन लिये है। मै जानता हूँ कि आज का समाज तुम्हे उचित विधि से ग्रहण करने को प्रस्तुत न होगा। यदि तुमने प्राण ही दे दिये तो फिर भौमासुर और इतने प्राणियो के सहार से क्या लाभ हुआ? तुम्हारी इच्छा भी मैंने सुन ली है। सुन्दरियो, मेरी इच्छा एक विवाह करने की भी न थी, पर मै देखता हूँ कि एक के स्थान पर न जाने मुझे कितने विवाह करने पड़ रहे है। जो कुछ हो, लोक हितार्थ, लोक सुखार्थ जो कुछ भी सम्मुख आयेगा, शक्ति के अनुसार किये बिना मन ही न मानेगा। मै जानता हूँ कि तुम सब शुद्ध हो, समाज की टीका की मुझे चिन्ता नही है, तुम्हारी इच्छानुसार मै तुम सबो को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूँ।. .....

"एक—यदि चाहे तो हमारी शुद्धता की आप परीक्षा कर ले, करुणेश।

"कृष्ण—नहीं, सुन्दरियो, नही, मेरा अन्तःकरण कहता है कि तुम सब शुद्ध, नितान्त शुद्ध हो, मुझे परीक्षा की आवश्यकता नही है।"

भारत युद्ध समाप्त हो रहा है। दुर्योधन और भीम का गदायुद्ध चला है। कृष्ण और अर्जुन तथा कृष्ण और बलराम का इस समय का सम्भाषण सुनिये—

"कृष्ण—दुर्योधन के सहार से आज इस महायुद्ध का अन्त और पाण्डवो की विजय हो जायगी।

"अर्जुन—इन सबके कारण तुम हो, कृष्ण।

"कृष्ण—(अर्जुन की ओर सिर घुमाकर) फिर वही, तुम कारण और मैं कारण, अरे, कोई कारण नही; सब निमित्रमात्र है। यदि इतने उद्योग के पश्चात् भी कौरव जीत जाते तो भी मेरे हृदय की वही अवस्था रहती जो अब है। (फिर सामने की ओर देखते हुए कुछ ठहर कर) पर, देखो, अर्जुन तुम्हारा अग्रज यह भीमसेन बड़ा मूर्ख है, अभी भी दुर्योधन से शास्त्रोक्त मल्लयुद्ध कर रहा है। प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण कौशल दिखा रहा है। इतना समझा दिया था कि दुर्योधन का उरु दण्ड बड़ा निर्बल है, एक ही गदा मे काम होता था। (कुछ ठहरकर) दुर्योधन बलराम का शिष्य है, भीम इस प्रकार लड़ा तो हारकर ही रहेगा। (कुछ ठहरकर) अब हारने ही लगा तो देखो, उधर चकपका कर देख रहा है। फिर संकेत करता हूँ।

[कृष्ण पैर ऊँचाकर हॉथ जॉघ पर मारते है। बलराम का प्रवेश]

"बलराम—कृष्ण! कृष्ण!

[कृष्ण बलराम का शब्द सुन उस ओर देख आगे बढ़ते हैं और उनके चरण स्पर्श करते हैं। अर्जुन भी यही करते हैं।]

"कृष्ण—आप कब पधारे, आर्य ।

"बलराम—अभी आ रहा हूँ । यह संकेत क्या हो रहा था ? दुर्योधन की भी हत्या करानी है क्या ?

"कृष्ण—(मुस्करा कर) आप तो तीर्थ-यात्रा में है न, तात ? इन सब प्रपंचो से आपको क्या प्रयोजन है ?

"बलराम—(क्रोध से) मुझसे एक सूत की हत्या हो गयी, इसका निवारण मे तीर्थ-यात्रा करके करूँ और तुम यहाँ पूज्यपाद भीष्म पितामह, गुरुदेव द्रोण आदि को निःशस्त्र कराकर उनका संहार कराओ । दुर्योधन की भी हत्या कराने के लिए भीम को सकेत करो ।

"कृष्ण—(मुस्कराकर) आर्य, आपने सूत की हत्या क्रोध के आवेश मे आकर की थी, उसका आपके हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ा । मैंने क्रोध या किसी प्रकार के आवेश मे आकर कुछ नही किया । जो कुछ मैंने किया—धर्म, न्याय, सत्य की विजय के लिए कर्तव्य समझकर किया है और वह भी फलेच्छा से रहित हो, अतः मेरे हृदय पर किसी बात का कोई प्रभाव नही पड़ा, तात । जिनकी आप हत्या हुई कहते है, उन पर मेरा उतना ही प्रेम था, जितना पाण्डवो पर है । पितामह गुरुदेव आदि का मुझपर भी अत्यधिक प्रेम था ।"

यादवास्थल हो चुका है । बलराम ने जल-समाधि ले ली है । कृष्ण को व्याध का बाण लग चुका है और उनके भी

इहलोक त्याग का समय है। इतने पर भी वे अपनी मुरली ही बजा रहे है। उनका और उद्धव का इस समय का संवाद उनके चरित्र और उनके तथा राम के चरित्र मे जो महान अन्तर है उसे समझने के लिए मननीय है—

"उद्धव—(निकट जाकर जोर से रो पड़ते हैं) भगवन्! भगवन्!

"कृष्ण—(मुरली हटाते हुए मुस्कराकर) कौन, उद्धव? क्यो, रोते क्यो हो? यादवो के नष्ट होने का रुदन है अथवा मेरे वियोग का? रोने का तो कोई कारण नही है।

"उद्धव—महाराज, क्या कहा? कुछ नही रह गया, सब गया भगवन, सब गया। यादव नष्ट हो गये, वीरवर बलराम ने आपकी यह दशा देख समुद्र मे समाधि ले ली और आप जाने को प्रस्तुत हैं, नाथ। यह मदभाग उद्धव ही रह गया।

"कृष्ण—(मुस्कराते हुए) जिसका कार्य समाप्त हो जाता है, उसे जाना ही पड़ता है, जिसका कार्य शेष रहता है, उसे रहना। मैंने तुम से कहा ही था कि मदोन्मत्त यादवो का मै कल्याण नही देखता, यह भी कहा था कि मेरा भी कोई कार्य शेष नही दिखता, आर्य का भी कदाचित कोई कार्य शेष न था, पर अभी तुम्हारी आवश्यकता जान पडती है ..... यदि इतने दीर्घ काल तक मेरे सग रहने पर भी आज तुम्हे यह मोह उत्पन्न हो रहा है, तो मेरे संग रहने से तुम्हे लाभ

ही क्या हुआ ? जब तुम्हारा कर्तव्य समाप्त हो चुकेगा, तब तुम चाहोगे, तो भी इस भूतल पर इस स्वरूप मे न रह सकोगे। जो सामने कर्तव्य आये, उसे निष्काम हो करते जाओ। (कुछ ठहरकर) अच्छा, उद्धव, अब जाता हूॅ। देखते हो, सामने का विशाल आकाश-मण्डल और विशाल समुद्र; इसी आकाश मे मै भी व्याप्त हो जाऊॅगा, इसी सागर की तरंगो मे मै भी विचरण करूॅगा। देखते हो, उठते, हुए बादल; इन्ही बादलो के संग मै भी क्षितिज पर उठूॅगा। देखते हो, बिजली, इसीके संग मै भी चमकूॅगा। देखते हो, सूर्य की किरणें, इनके संग मै भी आलोकित होऊॅगा। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना मे झलका करूॅगा और तारो की दमक मे दमका करूँगा। पर्वतो, नदियो, झरनो, वृक्षो, लताओ मे व्याप्त हो जाऊॅगा और इन सब के परे भी जो कुछ इस सारे विश्व मे दर्शनीय तथा अदर्शनीय, वर्णनीय तथा अवर्णनीय है, मै समस्त मे प्रविष्ट हो जाऊॅगा। सृष्टि के परे भी यदि कुछ होगा तो वहाँ भी मै होऊॅगा। मुझे जाने मे कोई क्लेश नहीं हो रहा है, कोई नही। इस बाण से शरीर को जो कष्ट मिल रहा है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नही, कोई नहीं। बड़े उल्लास, बड़े आनंद से मै जा रहा हूॅ। जाता हूॅ, उद्धव, जाता हूॅ, ऐसे स्थान को जाता हूॅ, जहाँ धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, प्रेम-द्वेष, पाप-पुण्य ऐसा द्वंद्व नही है; जहाँ सभी निर्द्वंद्व है, एक है। इस मुरली के स्वरो के साथ ही जाता हूॅ।"

[कृष्ण नेत्र बंदकर मुरली बजाते हैं। कुछ देर में मुरली बंद हो जाती है।]

'कर्तव्य' नाटक मे राम और कृष्ण के अतिरिक्त राधा का चरित्र एक सर्वथा नवीन ढग से चित्रित किया गया है। कृष्ण ने गोकुल से जाते समय राधा से कहा था—

"तुम अपने को ही कृष्ण क्यो नही मान लेती ? पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को मानने लगो, तथा भेद भाव से रहित हो उसी की सेवा मे दत्तचित्त हो जाओ। सेवा मे तो प्रयत्न की आवश्यकता ही न होगी, क्योकि भेद भाव के नाश होते ही जब अपने और अन्य मे समता का अनुभव होने लगेगा, तब जिस प्रकार अपनी भलाई मे दत्तचित्त रहना स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार अन्य की भलाई मे भी दित्तचित्त रहना स्वभाव हो जायगा और इसके अतिरिक्त अन्य कार्य ही अच्छा न लगेगा।"

कृष्ण के वियोग मे राधा ने अपने को और सारे विश्व को कृष्ण मानने का प्रयत्न किया। धीरे धीरे उन्हे यह अनुभव भी होने लगा। गोकुल से जाने के अनेक वर्षो पश्चात् कृष्ण व्रजवासियो से कुरुक्षेत्र मे सूर्यग्रहण पर मिले। राधा उस समय अन्धी हो गयी थी, परन्तु उनके आन्तरिक और सच्चे चक्षु खुल गये थे। जब कृष्ण उनसे मिलने गये तब वे कृष्ण के शब्द को पहचान उनसे मिलने झपटी और उनसे लिपट गयी। उस समय का कृष्ण और राधा का सवाद सुनिए—

"कृष्ण—नेत्र चले गये, राधा !

"राधा—हाँ, चर्म चक्षु चले गये, सखा, पर हृदय चक्षु खुल गये है। लगभग पैंतीस वर्षो मे यह अनुभव कर सकी, जिसे तुमने व्रज छोड़ने के समय कहा था—मै ही कृष्ण हूँ, सारा विश्व कृष्ण है। सुख, सर्वत्र सुख है। तुमने मुझे ऐसा सुखी बना दिया, सुख का ऐसा पूर हृदय पर चढ़ा दिया कि मै सारे ससार को सुख बाँट सकती हूँ।

"कृष्ण—अनेक जन्म बीतने पर भी जो अनुभव नहीं होता, उसे तुम इतने शीघ्र कर सकी।

"राधा—क्यो, सखा अभी तुम ग्यारह वर्ष के ही हो ?

"कृष्ण—नहीं सखि, मेरी अवस्था भी उतनी ही है जितनी तुम्हारी।

"राधा—पर, मेरे हृदय चक्षुओ से तो तुम उतने ही बड़े दिखते हो। वैसा ही सुन्दर बाल-स्वरूप है, सखा वैसा ही, स्पर्श मे भी तुम मुझे वैसे ही सुखद लगते हो, वैसे ही; वैसा ही प्यारा तुम्हारा स्वर है, वैसा ही; प्यारे सखा, बजाओ ! मुरली बजाओ, एकबार फिर सुनूँगी। मेरे प्यारे कृष्ण ! मेरे प्राण-वल्लभ कृष्ण ! मेरे सर्वस्व कृष्ण !"

ऐतिहासिक नाटक

हर्ष ऐतिहासिक नाटक है। सम्राट हर्षवर्धन स्थाएवीश्वर के राजा और भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट थे। उनकी बहन राज्यश्री और उनका सयुक्त राज्य था। हर्षवर्धन के समय के भारत का यह नाटक सजीव चित्र है। उस समय के राजनैतिक, धार्मिक, और सामाजिक क्षेत्र का इस नाटक मे ऐसा वर्णन हुआ है कि नाटक को पढ़ते पढ़ते उस समय का पूरा चित्र ही नेत्रों के सम्मुख खिंच जाता है। राजनैतिक क्षेत्र मे उस समय सम्राटो और साम्राज्य को ही महत्व था। हर्ष के वर्धन वश का उत्थान हो रहा था और गुप्त वंश का पतन हो चुका था। हर्ष के प्रतिद्वन्दी गुप्त वशी शशांक नरेन्द्रगुप्त थे। गुप्तवश के ही एक वशज माधवगुप्त हर्ष के अभिन्न मित्र थे, परन्तु माधव गुप्त का पुत्र आदित्य सेन अपने पिता और हर्ष का कट्टर विरोधी

हर्ष

था। उस समय के राजनैतिक वायुमण्डल और आपसी संघर्ष मे हर्ष, शशांक, माधव और आदित्य सेन की भावनाएँ नाटक मे अत्यधिक सजीवता से अंकित हुई हैं। धार्मिक क्षेत्र मे उस समय आर्य और बौद्ध धर्म का सघर्ष था। वह भी नाटक मे अनेक स्थलो पर सफलता पूर्वक दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक क्षेत्र मे राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रो का प्रभाव तो था ही, परन्तु राज्यश्री को सम्राज्ञी बनाकर हर्ष ने एक नया ज्वारभाटा उठा दिया था। यह भी नाटक मे खूबी से देखने को मिलता है।चीनी यात्री यानचांग हर्ष के समय ही भारतयात्रा को आया था। यानचांग भी नाटक के अनेक दृश्यो मे उपस्थित किया गया है।

नाटक का आरम्भ होता है हर्षवर्धन के अग्रज राज्यवर्धन के वध से। हर्ष बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्रभावित रहने के कारण राज्य-ग्रहण नही करना चाहते थे। स्थाण्वीश्वर की राज्य नौका राजा से रहित होने के कारण डगमगा रही थी। राज सभा की बैठक मे महामंत्री अवन्ति उस समय की राजनैतिक परिस्थिति का दिग्दर्शन निम्नलिखित शब्दो मे कराते है—

"अवन्ति—देखिये महाबलाधिकृत, शताब्दियो से इस देश मे प्रजातन्त्र सत्ता नही है। हमारी यह राज-सभा तथा इस सभा के सदृश जितनी भी राज सभाएँ इस देश मे है, वे सब एक प्रकार से राजाओं को मत्रणामात्र देने का अधिकार रखती हैं। राजा ही उन्हे नियुक्त और वे ही उनमे परिवर्तन करते हैं।

सम्राटो और राजाओ के हाथो मे सारी सत्ता के केन्द्रीय भूत होने के कारण प्रजा का राज-कार्यो मे बहुत थोड़ा अनुराग रह गया है। वह केवल वीर-पूजक हो गई है और सच्चे वीर ही उसका उपयोग करने की क्षमता रखते है। यही कारण है कि किसी वश मे वीर के न रहते ही सत्ता उस वंश के हाथ से दूसरे वश के हाथ मे तत्काल चली जाती है और जो भी राजा होता है प्रजा आँख मूँदकर उसका अनुसरण करती है।"

हर्ष के राज्य ग्रहण के पूर्व उनका और माधव गुप्त का सम्भाषण मनन करने से नाटक के यथार्थ उद्देश्य का पता लग जाता है।

"माधव गुप्त—देखिये, राजपुत्र, धर्म और कर्तव्य-पथ से चलकर ही जीवन व्यतीत करना, आपने अपना लक्ष बनाया है। अब तक आपके राज्य ग्रहण न करने के निश्चय को मै सदा और भी दृढ करने का उद्योग इसलिए करता रहा कि आपके अग्रज थे। मै नही चाहता था कि इन दिनो जिस प्रकार अन्य अनेक राजाओ मे राज्य के लिए सहोदर भ्राताओ के बीच कलह हो जाता है वैसा स्थाण्वीश्वर मे भी हो। आपके अग्रज सिंहासनासीन रह, सारे भारत को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का यत्न करते और आप उनके इस महान कार्य मे सहायता कर उनकी छत्रछाया मे प्रजा की सेवा मे दत्तचित्त रहते, परन्तु, आज तो राज्य की नीव ही हिल रही है। महाराजाधिराज, राज्यवर्धन के हत्यारे, चाहे वे मेरे आत्मीय ही क्यो न हो, मैं तो

उन्हे महाराजाधिराज का षड़यन्त्र से वध करने के कारण हत्यारा ही मानता हूँ, चक्रवर्ती सम्राट् होने की आकांक्षा कर रहे है और राजपुत्री राज्यश्री भी बन्धन मे पड़ी हुई है। यदि ऐसे आततायियो को दड न मिला तो फिर ससार का कार्य नियमित रूप से किस प्रकार चल सकेगा। वर्तमान परिस्थिति मे, आपका वर्तमान जीवन कर्तव्य-पथ पर न चलकर इसके विपरीत पथ पर ही चल रहा है। मै आपके विरागपूर्ण जीवन को सदा श्रेष्ठ मानता रहा, क्योकि मेरा निश्चय है कि मनुष्य को विषय-वासना के उपभोगो से सच्चा और स्थायी सुख मिलना असम्भव है। मै आपकी स्वाभाविक परोपकार प्रवृत्ति को सदैव उत्तेजित करता रहा, कारण कि मेरा विश्वास है कि इस संसार मे परोपकार के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु मे सच्चा और स्थायी सुख मिल ही नही सकता। आज भी मै आपको अपने दो अन्तिम विचारो मे कोई परिवर्तन के लिए नहीं कह रहा हूँ, केवल अपने प्रथम निर्णय को परिवर्तित करने का निवेदन करता हूँ।

"शिलादित्य—परन्तु, माधव, प्रथम निर्णय के परिवर्तित होते ही अन्तिम निर्णय तो आपसे आप बदल जायेंगे।

"माधवगुप्त—यह आवश्यक नही है। अनेक सम्राट तथा राजा राज्य करते हुए भी विरागी एवं परोपकार मे दत्तचित्त रहे है। उन्होने राज्य को सदा अपने पास प्रजा की धरोहर और अपने को प्रजा का सेवक माना है।

"शिलादित्य—ऐसे दृष्टान्त बहुत कम हैं। अधिकांश नरेश या तो विषयों में अनुरक्त रहे हैं या अपनी शक्ति और साम्राज्य बढ़ाने के लिये रक्तपात में दत्तचित्त।

"माधवगुप्त—नहीं, आर्य, भारतीय सम्राटों तथा राजाओं का यह आदर्श कभी भी नहीं रहा। विषय-लोलुप सम्राट् एवं राजाओं का चाहे अन्य देशों में उत्कर्ष हुआ हो, मिश्र के फरोह और रोमक के सीजर आदि विषय-लोलुप रहते हुए भी चाहे उन्नत हो सके हों, परन्तु भारत के इतिहास में आपको एक भी ऐसे सम्राट् या राजा का उदाहरण न मिलेगा, जिसका विषय-लोलुप रहते हुए उत्थान हुआ हो। अत्यन्त प्राचीन काल के भारतीय सम्राट रघु, राम, युधिष्ठिर आदि अथवा आधुनिक काल के चन्द्रगुप्त, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त इत्यादि किसी के जीवन की ओर आप देखें, इनमें से एक भी विषय-लोलुप न था। हां, रक्तपात इस देश के भी अनेक सम्राटों द्वारा हुआ, पर वह अधिकतर या तो आततायियों को दण्ड देने के लिए अथवा समस्त देश में सभ्यता और संस्कृति के एकीकरण रखने के उद्देश से; किसी के राज्य का अपहरण करने के निमित्त नहीं। आततायियों को दण्ड देकर उनका राज्य उन्हीं के निकटवर्ती सम्बन्धियों को दे दिया जाता था। किष्किन्धा और लंका में राम ने यही किया था। इसी प्रकार जो चक्रवर्ती होकर समस्त देश में एक सभ्यता और संस्कृति स्थिति रखने के लिए अश्व-मेध या राजसूय-यज्ञ करना चाहते थे वे भी युद्ध करनेवालों

के पुत्रादिको को ही उनके राज्य सौंप देते थे। पाण्डवो ने मगध के जरासिन्ध से युद्ध कर उसके पुत्र सहदेव को ही तो मगध का सिंहासन दिया था। यज्ञो के बन्द होने के पश्चात् भी चक्रवर्ती सम्राटो की यही पद्धति रही। उन्होंने किसी के राज्य का अपहरण न कर सब को माण्डलीक ही बनाया।

"शिलादित्य—फिर भी तुम यह नहीं कह सकते कि सभी सम्राट् और राजा विषयोपभोगो और अपनी सत्ता वृद्धि के लिए रक्तपात के दोषों से मुक्त रहे हैं। अतः क्या यह सबसे अच्छी बात न होगी कि इस समय पुनः प्राचीन भारत के लिच्छवि, वज्जिक, और मद्रक आदि राज्यो के समान प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय?

"माधवगुप्त—प्रजा को अब इस प्रणाली का अभ्यास नही रह गया है और इस समय, जब कि चारो ओर शत्रु प्रबल हो रहे हैं, तब, इस प्रकार के कार्य का समय नही है। ऐसे अवसरो पर तो एक ही व्यक्ति के अधिकार मे सत्ता का रहना आवश्यक है, फिर प्रजातन्त्र शासन प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ है, इसका भी कोई प्रमाण नहीं।

"शिलादित्य—यह कैसे?

"माधवगुप्त—यदि यह प्रणाली सवश्रेष्ठ होती तो इसके विकास के अनन्तर फिर सत्ता एक मनुष्य के अधिकार मे क्यों जाती? भारत मे लिच्छवि, वज्जिक, मद्रक आदि राज्यो मे प्रजातन्त्र के पश्चात् भी राजाओ के हाथ मे सत्ता गई। यही

बात हमे यवनक और रोमक आदि देशो के इतिहास से ज्ञात होती है। बात यह है, राजपुत्र, कि संसार मे हरएक वस्तु पूर्ण न होने वरन् परिवर्तनशील होने के कारण इन शासन-प्रणालियो मे भी परिवर्तन होता रहता है। एक बात सदा निर्दोष रह ही नही सकती। बहुत काल तक एक मनुष्य के अथवा अनेक मनुष्यो के हाथ मे सत्ता रहते रहते दोनो ही प्रकार की पद्धतियो मे अनेक दोप उत्पन्न हो जाते हैं। जनसमुदाय जब एक मनुष्य के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है, तब प्रजातन्त्र की स्थापना, और जब अनेक मनुष्यो के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है तब एक मनुष्य के हाथ मे सत्ता देने का प्रयत्न करता है। (कुछ ठहरकर) मुझे विश्वास है, राजपुत्र, कि यदि आपने राज-सिहासन ग्रहण किया तो भी आप कभी विषय-वासनाओ के आखेट न होंगे, न कभी आपके हाथो व्यर्थ का रक्तपात ही होगा, वरन् सदा सच्चे धर्म और कर्तव्य-पथ पर चलकर ही आप अपना जीवन व्यतीत 'कर सकेंगे। आप तो इस काल के विदेह हो सकते है, राजपुत्र।"

हर्ष राज्य स्वीकृत करते समय जो दो निश्चय करते है, उन्हे भी सुनिए।

"शिलादित्य—(कुछ सोचते हुए) महामात्य और महाबलाधिकृत, राज्य ग्रहण करना तो मैंने स्वीकृत कर लिया, पर, फिर भी मै दो बातें न करूंगा।

"अवन्ति—वे क्या राजपुत्र ?

"सिंहनाद—उन्हे और बता दीजिये।

"शिलादित्य—पहली बात विवाह और दूसरी व्यर्थ का युद्ध।

"अवन्ति—(कुछ विचार करते हुए) दूसरी बात तो ठीक है। व्यर्थ का रक्तपात हो, यह कोई नही चाहता, परन्तु विवाह आप क्यो न करेंगे ?

"सिंहनाद—(आश्चर्य से) हां, विवाह करने मे क्या हानि है ?

"शिलादित्य—मैं अपने को राज्य का संरक्षक मात्र मानना चाहता हूँ और राज्य को अपने पास प्रजा की धरोहर। मै अपने और अपने वश को राज्य का स्वामी और राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं मानना चाहता।

"सिंहनाद—विवाह करने के पश्चात् भी आप यही मान सकते हैं।

"शिलादित्य—नही, राज्य-सिंहासन पर बैठने के पश्चात् एक तो यो ही इस भावना की रक्षा कठिनाई से हो सकती है, फिर पुत्र-पौत्रादि हो तब तो इस भावना का चित्त मे ठहरना और भी कठिन हो जाता है। पुत्र-पौत्रादि यदि अयोग्य हो तो भी राज्य-सत्ता उन्ही के अधिकार मे रहे, इस लोभ की उत्पत्ति होती है।

"अवन्ति—परन्तु, श्रीमान्, यदि आपने विवाह न किया तो आपके पश्चात् राज्य का अधिकारी कौन होगा ?

"शिलादित्य—इसका निर्णय उस समय हो जायगा।

"सिंहनाद—किन्तु श्रीमान्, योग्य सन्तान के होने पर तो एक प्रकार से आप अपने पश्चात् के लिये भी सुशासन की व्यवस्था कर जायंगे।

"शिलादित्य—और यदि अयोग्य सन्तान हुई तो, महाबलाधिकृत, अयोग्य सन्तान होने पर भी राजसत्ता उसी के अधिकार मे रहे, इस आसक्ति की उत्पत्ति हो जायगी। देखिये, महामात्य और महाबलाधिकृत, राज्यसत्ता सदैव एक ही वंश के अधिकार मे, उस वश मे सन्तान के रहते हुए भी, नही रही है। किसी वश मे, अयोग्य के उत्पन्न होते ही, वह उस वश के अधिकार के बाहर चली गई है। फिर मै ही अपने हृदय मे असक्ति की उत्पत्ति कर, जो थोड़ी-बहुत प्रजा की सेवा करना चाहता हूँ, उस भावना के नाश का आयोजन क्यो करलूं? मैं तो प्राचीन भारत की प्रजातन्त्र-राज्य-प्रणाली का पक्षपाती हूँ, परन्तु यदि वह वर्तमान परिस्थिति मे सम्भव नही है तो मै सिंहासनासीन होकर राज्य-सरक्षक के रूप मे प्रजा-सेवा के लिए तैयार हूँ, पर, विवाह कर, मै अपने हृदय मे राज्य के लिए आसक्ति की उत्पत्ति नहीं करना चाहता। (खड़े होते हुए) मै सिंहासन ग्रहण करूँगा, परन्तु विवाह नही, कदापि नही।"

राज्य ग्रहण के पश्चात् स्थाण्वीश्वर को कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य बनाने और राज्यश्री को भारत की सम्राज्ञी बनाने में हर्ष के उद्देश्य देखिये।

"हर्ष—मै किसी बात पर निरर्थक हठ नही करना चाहता। या तो तर्क कर कोई मुझे यह सिद्ध करदे कि मेरा अमुक मत ठीक नही है, या वह मेरा मत मान ले। अमुक बात आज-पर्यन्त नहीं हुई है, इसलिये वह आज, और भविष्य मे भी नहीं हो सकती, यह मै नही मानता। यदि कोई बात आज-पर्यन्त नहीं हुई है और वह उचित है तो अवश्य होनी चाहिए। अब तक स्त्रियॉ पुरुषो की अनुगामिनी रही हैं। पुरुषो का स्थान समाज में ऊँचा और स्त्रियो का निम्न माना गया है। भगवान बुद्ध ने स्त्रियो को पुरुषो की अनुगामिनी न मानकर, सगिनी मान, उन्हे धार्मिक कार्यों मे पुरुषो के समान ही अधिकार दे दिये हैं। सद्धर्म्म मे यदि पुरुष भिक्षु हो सकते हैं तो स्त्रियॉ भी भिक्षुणी। मै राज काज मे भी स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार देने की परिपाटी चलाना चाहता हूँ। यदि पुरुष सिहासनासीन हो सकते है, तो स्त्रियॉ भी, विधवाऍ भी।...... देखो, राज्यश्री, मेरी भी इच्छा राज्य ग्रहण करने की न थी। मै आर्य-धम का अनुसरण कर, सन्यासी हो, बन मे जाकर केवल अपने कल्याण का चिन्तन नहीं करना चाहता था, क्योकि वह तो स्वार्थ हो जाता। मै भी वास्तव मे भिक्षु होकर मठ मे निवास कर संसार का कल्याण करना चाहता था। संसार के कल्याण मे दत्तचित्त रहने पर अपना कल्याण तो आपसे आप हो जाता है उसके लिए चिन्तन करने के स्वार्थ मे भी पड़ने की आवश्यकता नही होती। परन्तु, मैंने वह भी न कर उसी

कार्य को राज्य ग्रहण करके करने का निश्चय किया है। तुम भी तो भिक्षुणी होकर ससार के कल्याण मे ही दत्तचित्त होना चाहती हो न ?

"राज्यश्री—अवश्य।

"हर्ष—वह तुम राज ग्रहण करने पर यदि उसमे ममत्व न रखोगी तो भिक्षुणी होने की अपेक्षा कही अधिक कर सकोगी। अन्त मे यही सोचकर मैंने भी राज्य ग्रहण कर लिया और इतने ही दिनो के अनुभव से मै देखता हूँ कि मैंने राज्य ग्रहण कर कोई भूल नही की है . . फिर इस विषय मे मैंने एक और निश्चय किया है।

"हर्ष—मै स्वयं तुम्हारे संग कान्यकुब्ज मे रहूँगा।

"राज्यश्री—और स्थाण्वीश्वर का राज्य ?

"हर्ष—वह कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य होगा।

"राज्यश्री—(चौंक कर) क्या कहते हो, क्या कहते हो, शिलादित्य ! यह त्याग ! यह अपूर्व त्याग !

"हर्ष—इसमे इतना ही तो त्याग है न, कि मै सम्राट न हुआ और तुम सम्राज्ञी हुई।

"राज्यश्री—यह क्या छोटा त्याग है ? एक-एक कौड़ी के लिए सहोदर भ्राता एक दूसरे का सिर काटने को उद्यत रहते हैं और तुम इतने बडे साम्राज्य को ठोकर मार रहे हो।

"हर्ष—राज्य का इस दृष्टि से मेरे सामने कभी महत्व ही नही रहा। मैंने उसे राजा की धरोहर मात्र माना है। (कुछ ठहर

कर) तुम्हारे सम्राज्ञी और मेरे माण्डलीक होने मे एक और बड़ा भारी उद्देश है।

"राज्यश्री—वह क्या ?

"हर्ष—तुम्हे स्मरण होगा कि मैंने तुमसे कहा था कि भारतवर्ष का कल्याण भारत को एक साम्राज्य मे परिणित करने से ही हो सकता है।

"राज्यश्री—हाँ, कहा था।

"हर्ष—और तुम यह भी जानती हो कि मै रक्तपात के विरुद्ध हूँ, क्योंकि एक तो सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्यवर्ग के कृत्यो मे रक्तपात को मेरी दृष्टि से कोई स्थान ही नही है, फिर रक्तपात द्वारा जिस साम्राज्य की स्थापना होती है वह कभी चिरस्थायी नही रह सकता।

"राज्यश्री—तुम्हारे इन मतो को मै भली भाँति जानती हूँ और तुम्हारे इन मतो से सहमत भी हूँ।

"हर्ष—ऐसी परिस्थिति मे, यदि मै सारे देश मे एक साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य को स्पष्ट कर स्वेच्छा पूर्वक तुम्हारा माण्डलीक हो गया तो अन्य राज्यो के लिए एक उदाहरण हो जायगा और मै अन्य राज्यो को समझा-बुझाकर बिना रक्तपात के ही साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करूँगा।"

राज्यश्री को राज्य करते हुए अट्ठाइस वर्ष बीत गये।

साम्राज्य की वृद्धि और प्रजा को सुख होने पर भी राज्यश्री को सन्तोष नहीं है। इसके कारण है—

"राज्यश्री—यह सारा कार्य उस पल्लवित और पुष्पित वृक्ष के सदृश है, जिसकी जड़ पृथ्वी के भीतर गहरी न जाकर किसी चट्टान पर हो। हाल ही मे मौर्य और गुप्त-साम्राज्य मे भी यह सब हुआ था। वह कितने दिनो तक टिका? शिलादित्य की सम्मति के अनुसार मैंने सिहासन ग्रहण करने के दिन घोषणा की थी कि यह राज्य समस्त भारतवर्ष मे एक धर्म, एक भाषा और एक से सामाजिक सगठन पर सारे देश मे एक राष्ट्र की स्थापना का उद्योग करेगा, जिसमे इस देश का साम्राज्य चिरस्थायी रह सके। यद्यपि सारा आर्यावर्त अब एक साम्राज्य के अन्तर्गत है, परन्तु एक राष्ट्र का निर्माण मुझे अभी भी इतनी ही दूरी पर दिखता है जितना आज के अट्ठाइस वर्ष पूर्व था।

"अलका—(कुछ सोचते हुए) यह तो सत्य जान पड़ता है, महाराज्ञी। परन्तु, इसका क्या कारण है?

"राज्यश्री—मुख्य कारण एक ही है।

"अलका—वह क्या?

"राज्यश्री—शिलादित्य और मुझे जो आशा थी कि साम्राज्य मे बराबरी के अधिकार देने से समस्त देश के नरपतिगण उसमे स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होने के लिए आगे बढ़ेंगे, वह आशा पूर्ण न हुई। अतः शिलादित्य के पहले छः वर्ष तथा उसके पश्चात

का भी बहुत-सा समय युद्ध तथा विप्लवो की शान्ति एव अन्य राज्य-काज के पचड़ो मे ही बीता। फिर जो नरपति साम्राज्य के अन्तर्गत आये हैं उनकी दृष्टि भी इस ओर न होकर अपना-अपना बल बढ़ाने की ओर ही है।

"अलका—(कुछ ठहरते और विचारते हुए) तो जो व्यक्तिगत-स्वार्थ हर एक महान् कार्य के मार्ग मे बाधक होता है वही आपके और महाराजाधिराज के शुभ संकल्पो में भी बाधक हो रहा है।

"राज्यी—हाँ, अलका। वही व्यक्तिगत स्वार्थ, अनेक बार आज का-सा विचार मेरे मन मे उठता था, प्रत्येक युग के अन्त मे, जब मै युग भर के कार्यों का सिंहावलोकन करती थी, तब यह विचार और भी प्रबल हो जाता था, परन्तु अभी तक मुझे युद्ध समाप्त होने की आशा थी। युद्धो की समाप्ति होते ही हम दोनो इसी एक कार्य मे लग जायंगे; इसका भी विश्वास था। अभी वल्लभी की विजय के पश्चात् यह विश्वास और दृढ़ हो गया था, परन्तु आज, जब से दक्षिण भारत पर आक्रमण करने का निर्णय हुआ है, तब से तो मै बहुत ही अशान्त और निराश हो गई हूँ।"

इसी सम्बन्ध मे जब राज्यश्री और हर्ष का सवाद होता है तब हर्ष की भावनाओ मे जो परिवर्तन हुआ है उसे उन्ही के शब्दो मे उद्धृत किया जाता है—

"हर्ष—तुम जानती हो कि दक्षिण पर आक्रमण करने का विचार मैंने बहुत दिनो तक स्थगित रखा, परन्तु पुलकेशिन का मालव, गुर्जर और कलिंग पर आक्रमण तो दक्षिण के इस आक्रमण को अनिवार्य कर देता है। यदि हम दक्षिण पर आक्रमण न करेंगे तो कदाचित् उनका आक्रमण हम पर हो जाय। इसलिए एकाएक मैंने यह निर्णय किया है।"

दक्षिण मे हर्ष की पराजय हुई। जब फिर से दक्षिण पर आक्रमण करने की तैयारी आरभ हुई उस समय हर्ष, राज्यश्री, यानचांग और राज्य के महामन्त्री तथा महासेनापति का जो वादविवाद हुआ उससे हर्ष के भावी कार्यक्रम के उद्देश्यो का पता लगता है—

"यानचांग—भारतीय सम्राट् अशोक ने तो सारे ससार को एक सूत्र मे बॉधने का उद्योग किया था। और यह, संसार को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किये बिना ही। आप समझते है कि यदि आप अपने देश को एक साम्राज्य के अन्तर्गत ले भी आये और यदि आपने अपने देश मे एक राष्ट्र की स्थापना कर भी ली तो आप सब भयो से मुक्त हो जायेंगे ?

"भण्डि—फिर हमें कौन सा भय रह जायगा ?

"यानचांग—विदेशी आक्रमणो का।

"भण्डि—उसके लिए हम यथेष्टरूप से बलवान रहेगे।

"यानचांग—परन्तु जैसे एक प्रकार की वस्तु से उसी प्रकार की वस्तु उत्पन्न होती है, वैसे युद्ध से सदा युद्ध की ही

उत्पत्ति होती है। ज्योही एक विदेशी आक्रमण मे आपकी शक्ति का व्यय हुआ और दूसरो ने देखा कि आप निर्बल हैं, त्योही आप पर दूसरा आक्रमण होगा। जब तक यह युद्ध होगा तब तक आप ही नही सारे संसार की यही अवस्था रहेगी। इसलिए सम्राट् अशोक के सदृश, बिना युद्ध के ही, सारे संसार को एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न होना चाहिए।"

"भण्डि—परन्तु, सम्राट् अशोक का तो वह प्रयत्न असफल हो गया।

"यानचांग—एक देश, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यो न हो अकेला इतना बड़ा कार्य नही कर सकता, इसके लिए अनेक देशो मे एक साथ यह प्रयत्न चलना [illegible] और वह भी सतत। सम्राट् अशोक के पश्चात् वह कार्य इस प्रकार से अब तक संसार मे कही किया ही नही गया।

"माधव गुप्त—(जो अब तक चुप होकर सारे विवाद को ध्यान-पूर्वक सुन रहा था) तो आप समझते है कि सारे संसार पर एक धर्म, एक भाषा और एक सामाजिक संगठन की स्थापना हो सकती है ?

"यानचांग—यह चाहे न हो, परन्तु उस सहिष्णुता की स्थापना अवश्य हो सकती है, जिससे एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक संगठन वाले दूसरे धर्म, दूसरी भाषा और दूसरे प्रकार के सामाजिक संगठन वालो को अपना शत्रु न समझकर मित्र समझें, एक दूसरे का रक्तपात करने के

इच्छुक न रह कर एक दूसरे को सहायता पहुँचावे और इस कार्य मे सब अपना अपना स्वार्थ मानें।

"हर्ष—(प्रसन्न होकर) यह मैं भी मानता हूँ। यह परिस्थिति संसार मे अवश्य लायी जा सकती है और आप ठीक कहते हैं, यानचाग महोदय, कि जब तक ससार मे यह परिस्थिति नही लायी जायगी, तब तक कोई भी देश सुखी नहीं हो सकता। आपके इस कथन को भी मै मानता हूँ कि एक देश इस परिस्थिति की स्थापना मे सफल नही हो सकता और इसके लिए अनेक देशो मे एक साथ तथा सतत प्रयत्न होना चाहिये। वल्लभी के पराजित नरेश सेनापति ध्रुवसेन को मै वल्लभी का राज्य लौटा कर उसके संग अपनी पालित पुत्री जयमाला का विवाह कर उसे जमाता बनाऊँगा। पुलकेशिन को अब मै युद्ध कर विजय न करूँगा, परन्तु बिना साम्राज्य के अन्तर्गत किये ही मैत्री स्थापित कर विजय करूँगा। साथ ही, यत्न करूगा कि अन्य नरेश भी यही करें। (यानचोग से) चीन-सम्राट से अपने देश मे आप यही कराइये। मैंने सुना है, पुलकेशिन से पारस देश का पारस्परिक मैत्री सम्बन्ध है। चीन और आर्यावर्त का सम्बन्ध आप करा दीजिये। इस प्रकार चीन, पारस और भारत इन तीन महान देशो मे यदि परस्पर मैत्री हो गई, तो जम्बू द्वीप के अन्यान्य छोटे-छोटे देशो मे तो यह कार्य बहुत शीघ्र हो जायगा और फिर ससार का गुरु जम्बूद्वीप इस दिशा मे भी अन्य द्वीपो के प्रदर्शन का कार्य करेगा। (कुछ ठहरकर भण्डि से) महा-

बलाधिकृत, अब युद्ध नही, इस जीवन मे अब मैं युद्ध न करूँगा। मेरा जीवन तथा सारे आर्यावर्त की शक्ति अब इसी शुभकार्य मे लगेगी।

"राज्यश्री—(आँखों में आँसू भरकर) धन्य मेरा भाग्य और धन्य आर्यावर्त का।

[कुछ देर तक सब चुप रहते हैं]

"हर्ष—राज्यश्री, सारे विश्व को इस प्रकार एक नवीन संगठन मे परिणत करने के लिए, कितने दीर्घ काल और महान प्रयत्न की आवश्यकता होगी, इसकी कल्पना सहज ही मे की जा सकती है। फिर प्रयत्न कर्ता यह प्रयत्न अधिकांश मे अपने देश ही मे कर सकता है, यह भी स्पष्ट है। भारतवर्ष मे यह प्रयत्न जिन दिशाओ मे होगा उन्हे मै युगो से सोच रहा हूँ। अब युद्ध को सर्वथा बन्द कर देने के पश्चात् मेरा सारा समय इसी प्रयत्न में जायगा।

"राज्यश्री—वे कौन सी दिशायें हैं, शिलादित्य ?

"हर्ष—वे ही बता रहा हूँ, राज्यश्री। आर्य और बौद्ध-धर्म के एकीकरण के लिये मै स्वयं शिव, आदित्य और बुद्ध की प्रतिमाओ का एक सार्वजनिक पूजन करूँगा। उसे यज्ञ का रूप देकर अर्यावर्त के समस्त राजाओ, धार्मिक संस्थाओ और प्रजा को सम्मिलित होने का निमन्त्रण दूँगा।

"राज्यश्री—इससे धार्मिक एकता मे अवश्य ही बहुत बड़ी सफलता मिलेगी।

"हर्ष—और इसी अवसर पर तुम्हारी ओर से मै कान्यकुब्ज के कोप मे संग्रहीत समस्त धन, सम्पत्ति, रत्न-आभूषण का दान कर दूँगा।

"भण्डि—(चौंककर) सर्वस्व दान।

"हर्ष—हां, सर्वस्व-दान, महाबलाधिकृत मेरे शरीर मे जो आभूषण हैं, इन तक का दान। (कुछ रुककर) देखिए, महाबलाधिकृत, नरपतिगण अधिक तर यह कोप-सग्रह अपने विलासो की पूर्ति एव एक-दूसरे से युद्ध कर अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए करते है। इस प्रवृत्ति के नाश के लिए आर्यावर्त के साम्राज्य की ओर से केवल उपदेश नही, किन्तु कर्म की आवश्यकता है।

"माधवगुप्त—और आप समझते है, परमभट्टारक, कि आपके एक बार इस प्रकार के दान से नरेशो की यह प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी?

"हर्ष—मै एक बार ही इस प्रकार का दान न करूंगा।

"माधवगुप्त—तब?

"हर्ष—प्रजाहित के समस्त कार्यों मे व्यय होने के पश्चात् जो कुछ धन साम्राज्य के कोप मे बचेगा, उसका हर चौथे वर्ष, युग का अन्त होते ही दान कर दिया करूंगा।"

ऐसे हर्ष के विरोधी शशांक नरेन्द्रगुप्त और आदित्यसेन की भावनाओ को भी देखिए। शशांक अपने सेनापति से कहते हैं—

"शशांक—किसी महान कार्य की सिद्धि के लिए, किन उपायो का अवलम्बन किया गया, यह बात गौण है; कार्य की सिद्धि मुख्य बात है। (धीरे धीरे) राज्यवर्द्धन की हत्या किसी महान कार्य के लिये की गयी थी। यदि वर्द्धनो के विरुद्ध विद्रोह और शिलादित्य की हत्या भी किसी महान कार्य के लिए की जाय तो ये कर्म पाप न होकर पुण्य ही होगे। फिर महाबलाधिकृत आप तो केवल मेरे और मेरे वश के गौरव की रक्षा के लिए वर्द्धनों से युद्ध और युद्ध मे प्राण त्याग करना चाहते हैं, परन्तु उनकी अधीनता स्वीकार करने मे मेरा तो इससे भी कही महान उद्देश्य है, जो इस युद्ध और प्राण-त्याग से सिद्ध नही हो सकता।

"यशोधवल—वह क्या ?

"शशांक—आर्य-धर्म की रक्षा .. .. मै, आर्य, मै हृदय से शासित न होकर मस्तिष्क से शासित होता हूँ।"

मस्तिष्क से शासित होने वाले शशांक तो अपने उद्देश्य मे सफल न हो सके परन्तु आदित्यसेन हर्ष के पश्चात् बहुत बड़ा राजा अवश्य हुआ। आदित्यसेन यद्यपि हर्ष का विरोधी था, परन्तु वह मस्तिष्क से शासित न होकर हृदय से ही शासित होता था। उसकी कुछ भावनाओ को देखिये। आदित्यसेन का उसकी माता तथा उसके पिता से जो संवाद हुआ उसी से इसका आरम्भ किया जाता है—

"शैलबाला—सभी महापुरुष पूज्यनीय हैं।

"आदित्यसेन—नही, कदापि नही, सभी पूज्यनीय नहीं हो सकते। कुछ के पूजन से हमारा उत्कर्ष होता है और कुछ के पूजन से हमारा पतन। यदि पिता जी ने परमभट्टारक महाराजाधिराज, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के संग ही हर्ष का भी पूजन न किया होता, तो वे समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के समान होते, वर्तमान माधवगुप्त के समान नही।

"शैलबाला—बेटा, महापुरुष जन्म से ही होते है, पूर्वजो का पूजन और अन्यो की घृणा से कोई महापुरुष नही होता, यह मैं भी मानती हूँ परन्तु उसी के साथ अन्यो का पूजन महापुरुष होने मे सबसे बडी बाधा है, इसमे भी मुझे सन्देह नही।

"माधवगुप्त—अपने कुल का गर्व, अपने वान्धवो से सहानुभूति बुरी बातें नही। परन्तु इन भावनाओ के कारण यदि अन्य कुलो से ईर्षा की उत्पत्ति हो और इस ईर्षा से अन्धे होने के कारण यदि अन्यो के न्याययुक्त कार्य भी अन्यायपूर्ण दिखें तो यह कुल-गर्व एव वान्धव सहानुभूति न अपने लिए कल्याणकारी हो सकती है और न किसी दूसरे के लिए।

"आदित्यसेन—निष्पक्षता की दृष्टि से संसार मे कोई बात देखी ही नही जा सकती।.. . ..यह संसार बुद्धिमानो और बलवानो के लिये है। जिनमे बुद्धि है, जिनमे बल है, वे दूसरों पर अत्याचार कर सकते हैं; उनका अत्याचार, पक्षपात तथा स्वार्थपूर्ण होते हुए भी संसार न्यायपूर्ण मानता है। पिता जी,

मैं तो इस संसार में महत्वाकांक्षा से अधिक महत्वशाली और सफलता से अधिक सफल वस्तु और कोई है, यह मानता ही नही। महत्वाकांक्षा से भरा हुआ व्यक्ति जीवन सग्राम मे जब सफलता प्राप्त कर लेता है तब वह महापुरुष-पद को प्राप्त करता है। संसार उसीका अनुसरण करता है, चाहे इने-गिने व्यक्ति उसे बुरा कहे, पर जनसमुदाय उसी का पूजन करता है। सारे संसार के इतिहास मे जिन्हे महापुरुष पद-प्राप्त है वे सब इसी कोटि के हैं, निष्पक्षता और निस्वार्थता ढकोसला है, बिडम्बना है।

"माधवगुप्त—हर्षवर्द्धन का साथ देने के लिए मेरी अन्तरात्मा मुझे प्रोत्साहन देती है, हर्षवर्द्धन की न्याय-परायणता एवं उनके सच्चे स्नेह तथा शशांक नरेन्द्रगुप्त के अत्याचार एवं उसके विश्वासघात के कारण। तेरी स्वतन्त्रता का यदि अपहरण होगा तो उसका कारण होगा तेरी उद्दण्डता और बार बार मेरी सम्मति की उपेक्षा।

"आदित्यसेन—(अत्यन्त दृढ़ता से) मै इसके लिए तैयार हूँ, पिता जी।

"शैलबाला—(बहुत ही घबड़ाकर खड़े होते हुए)) यह क्या, यह क्या हो रहा है ? (माधवगुप्त की ओर देखकर गिड़गिड़ाते हुए) क्या कह रहे हैं, नाथ, आप ! (आदित्यसेन की ओर देख, गिड़ गिड़ाते हुए) और क्या कहता है बेटा तू ! पिता पुत्र की स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा और पत्र पिता की आज्ञा का उल्लंघन !

"आदित्यसेन—(रूखे स्वर में) यह कर्तव्य क्षेत्र है, मां, जिसे पिता जी अपना कर्तव्य समझते है उसे वे, और जिसे मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ उसे मै करूँगा।

"शैलबाला—(जल्दी जल्दी) यह कैसा कर्तव्य क्षेत्र है ? कर्तव्य क्षेत्र मे क्या हृदय को कोई स्थान नही है ? क्या यह क्षेत्र हृदयहीनता से ही भरा हुआ है ? (माधव गुप्त से) नाथ, क्या पुत्र के लिए पिता के हृदय मे माता के हृदय का सा स्नेह नहीं रहता ? आदित्य की बाल्यावस्था मे तो यह नही जान पड़ता था। उस समय तो, नाथ, इसकी एक एक मुस्कान पर, इसकी एक-एक बाल क्रीड़ा पर आप सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। क्या इसके युवा होते ही वह सारा स्नेह कपूर हो गया। आजकल तो नित्यप्रति इसी प्रकार का कोई न कोई प्रसग उपस्थित रहता है। आपका पुत्र, आपके प्राणो से प्यारा पुत्र, आपके द्वारा ही वन्दी बनाया जावे, आपके द्वारा ही परतन्त्र किया जावे, पिता पुत्र को कारावास भिजवाये, यह सब क्या है, यह सब क्या है नाथ !"

आदित्यसेन इस प्रकार की भावनाओ के कारण अपने घर मे न रह सका। वह शशांक से जा मिला और दोनो ने मिलकर विप्लव किया। शशांक ने, आदित्यसेन सफल होगा, यह भविष्यवाणी की और उसका कारण बताया—

"शशांक—(नेत्रों को पोंछते हुए) तेरे और मेरे स्वप्न मे अन्तर नही है, बेटा फिर भी वर्द्धनो के जिस नाश को तू अपना

स्वप्न कहता है, उसके सत्य होने मे भी अब तो बहुत कम सन्देह और बहुत कम समय रह गया है। परन्तु, परन्तु उसके सत्य होने का कारण भी मै नही, यथार्थ मे तू ही है, बेटा।

"आदित्यसेन—यह कैसे पिता जी ?

"शशॉक—(आदित्यसेन को एक टक देखते हुए धीरे धीरे) यह कैसे ? इसमे गूढ़ ... ... बड़ा, गूढ़ रहस्य है। तू हृदय से शासित होता है, बेटा, और मै, मै मस्तिष्क से मस्तिष्क का शासन छोटे-छोटे कार्यो, छोटे-छोटे षड्यन्त्रो को चाहे सफल करदे, परन्तु . .।"

माधवगुप्त ने विप्लवी पुत्र को कैद कर हर्ष के सर्वस्वदान के अवसर पर हर्ष के सम्मुख उपस्थित किया और उसे प्राण दण्ड दिया जाय, यह प्रार्थना की। उस समय की परिस्थिति नाटक मे सुन्दरता से दिग्दर्शित की गयी है।

"शैलबाला—भिक्षा मॉगतीं हूॅ, परम भट्टारक, अपने इस एकलौते पुत्र के प्राणो ... ..।

"आदित्यसेन—(सिर उठाकर, गरजकर) क्या, क्या, कह रही है। मॉ, क्या कह रही है। क्षत्राणी होकर भिक्षा। जो प्राण एक दिन जाना ही है, उसकी भिक्षा ! शत्रु से भिक्षा ! उत्तम होता, यदि मै तेरे गर्भ मे ही प्रवेश न करता। उत्तम होता, यदि मै जन्मते ही मर जाता। मेरा इस लोक का जीवन तो समाप्त हो रहा है, पर मरते समय भी पिता के सदृश क्या

माता का भी स्मरणकर मुझे तू गौरव का अनुभव न करने देगी ? क्या माता का नाम लेकर भी यह आदित्यसेन सहर्ष अपने प्राण न दे सकेगा ? (हर्ष से) वर्द्धनराज, आप मेरी माता की बात न सुनिए, उस ओर ध्यान ही न दीजिए। पिता जी के कथनानुसार इस अन्तिम गुप्तवंशीय को प्राण दण्ड देकर मेरे गौरव की रक्षा कीजिए। मेरा गौरव न मेरे पिता पर अवलम्बित है और न माता पर। (अपना वक्षस्थल फुलाकर सिर ऊँचा उठाते हुए) वह मुझ पर अवलम्बित है, केवल मुझ पर।"

हर्ष ने आदित्यसेन को मुक्त कर दिया। उसे मुक्त करते हुए उन्होने जो कुछ कहा वह नाटक का अन्तिम भाषण है—

"हर्ष (शान्ति से मुस्कराते हुए) नवयुवक, तुम सच्चे नवयुवक हो। युवावस्था मे जैसा तेज, जैसा उत्साह, जैसी निर्भीकता होनी चाहिए वैसी ही तुममे है। परन्तु देखो, तुम्हारे ये सद्गुण तुम्हारे एक विवेकहीन विश्वास के कारण तुम्हे ठीक पथ पर न चला कर पथ-भ्रष्ट कर रहे है। आदित्यसेन, तुम मुझे वृथा ही गुप्त वश का शत्रु मान रहे हो। मैंने अपने वश का गौरव बढ़ाने के लिए यह राज्य ग्रहण नही किया है। मेरे विवाह न करने के करण वर्द्धन-वश का तो कोई वशज ही न रहेगा। अपने उत्कर्ष के लिए भी यह पद मैंने नही लिया है, यदि ऐसा होता तो मै स्थाणीश्वर को कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य क्यो बनाता ? पुत्र, मुझे अपने से और अपने वंश से

कभी आसक्ति का अनुभव नही हुआ, न किसी विशिष्ट धर्म और देश से अनुराग। इस विशाल विश्व को ही अपना देश मान, सारे धर्मों पर समान रूप से श्रद्धा रख अपने पराये सभी को अपना बन्धु समझ, मैने अपने जीवन का अब तक का समय व्यतीत करने का प्रयत्न किया है। हाँ, इतने पर भी मुझे अनेक युद्ध करने पड़े है, अनेक विद्रोहियो का दमन करना पड़ा है, परन्तु उस परिस्थिति मे कदाचित् वह अनिवार्य था। यदि मेरा अब तक का जीवन मेरी अभी कही हुई बातो को सिद्ध करने मे समर्थ नही है, तो तुम्हे अपने कथन की सत्यता का अन्य कौन सा प्रमाण दे सकता हूॅ ? (कुछ रुक कर) मै तुम्हे मुक्त करता हूँ, आदित्यसेन, इसलिए नहीं कि तुम्हारी माता ने मुझसे तुम्हारे प्राणो की भिक्षा माँगी है, परन्तु इसलिए कि तुमसे अधिक तेजस्वी, तुमसे अधिक उत्साही, तुमसे अधिक निर्भीक अन्य कोई युवक मुझे इस समय इस आर्यावर्त मे दिखाई ही नही देता। तुमने यदि इन सद्‌गुणो का, अपने और और अपने वंश के उत्कर्ष मे उपयोग न कर लोक-सेवा मे उपयोग किया तो मै तुम्हे आशीर्वाद देता हूॅ कि तुम इस आर्यावर्त के परम प्रतापी, सच्चे लोक-सेवी सम्राट होगे और तुम्हारी कृति से तुम स्वय तथा यह जगत दोनो ही अनुपम सुख का अनुभव करेंगे। (सैनिकों से) छोड़ दो, सैनिको आदित्यसेन को मुक्त कर दो।"

हर्ष अपने उद्देश्यो मे सफल न हुए। परन्तु इससे क्या ?

इस विषय में उन्ही के महामन्त्री और महा-सेनापति का सवाद सुनिए—

"भण्डि—अब तक उनके सारे प्रयोग असफल हुए हैं। पहले वे सिंहासन पर न बैठ प्रजा की सेवा करना चाहते थे, वह न हुआ और उन्हें सिंहासनासीन होना पडा। फिर उन्होने साम्राज्ञी को सिंहासन पर बिठा महिलाओ को पुरुषो के सदृश अधिकार दिलाने की बात सोची, पर आज भी पुरुष उच्च और महिलाएँ निम्न मानी जाती हैं, फिर उन्होने स्वय कान्यकुब्ज का माण्डलीक बन कर अपने उदाहरण द्वारा बिना युद्ध के ही प्रत्येक देश को साम्राज्य का समानाधिकारी बनाना चाहा वह प्रयत्न भी असफल हुआ और उन्हे अनेक वर्ष नही, परन्तु अनेक युग युद्ध मे व्यतीत करने पड़े। अब राज्यो की परस्पर मैत्री और युद्ध के लिए धन-संग्रह के विरोध से स्वय सर्वस्व दान कर अन्य नरेशो को इस दिशा मे आकर्षित करने का यह प्रयोग कहाँ तक सफल होगा सो तो पहले प्रयोगो से भी अधिक स्पष्ट है।

"माधवगुप्त—परन्तु मित्र, छोटी-छोटी बातो मे सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा महान् कार्यों में असफल हो जाना कहीं श्रेष्ठ है··· ······ससार मे महान व्यक्ति महान कार्यों का प्रयोग करने को आते हैं, उनके कार्य किसी न किसी नवीन दिशा में होते हैं, इतना गत इतिहास से अवश्य जान पडता है। अनेक कार्यों का फल तत्काल मिला है और अनेक का शताब्दियों पश्चात्। किन बातो से मानव-समाज का स्थायी कल्याण

होगा, यह अब तक सिद्ध नही हो पाया, क्योकि जैसा मैंने अभी दो बार तुम से कहा कि हम यह नहीं जानते कि मानव-समाज किस ओर, किस प्रकार जा रहा है। मै परमभट्टारक को महा-पुरुष मानता हूॅ। जो बाते वे करना चाहते है उन पर मै सम्मति अवश्य देता हूॅ, परन्तु अन्त मे उनके निर्णय को मैं मस्तक झुकाकर स्वीकृत कर लेता हूॅ, क्योकि जहाँ तक उनकी पहुॅक है, वहाँ तक मै अपनी नही मानता।

"भण्डि—तुम्हारे इस सिद्धान्त के अनुसार साधारण कोटि के मनुष्यो के कार्य की तो कोई दिशा रह ही नही जाती।

"माधवगुप्त—यह मै नही मानता। उनकी कार्य-दिशा महापुरुषो का अनुसरण है।

"भण्डि—परन्तु, महापुरुप भी एक दिशा मे तो नही चले हैं! किसका अनुसरण किया जावे ?

"माधवगुप्त—जो जिसे महान् पुरुष दिखे तथा जिसकी कृति मे कम से कम स्वार्थ और अधिक से अधिक परमार्थ दृष्टि-गोचर हो।"

'हर्प' नाटक मे हर्प के जीवन की सारी घटनाएँ ऐतिहासिक है। उनमे लेखक ने कोई परिवर्तन नही किया। परन्तु उन घटनाओ के उद्देश्यो के सम्बन्ध मे गोविन्ददास जी ने अपने मतो को काम मे लाया है। इस सम्बन्ध मे वे 'हर्ष' की भूमिका मे लिखते है—

"मेरा मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी भी पुरानी कथा को तोड़-मरोड़कर उसे एक नई कथा ही बना दे। हाँ, कथा का अर्थ (Interpretation) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है। मैंने इस नाटक के लिखने मे यही नीति अपने समक्ष रखी है तथा सर्वत्र इसका इसी प्रकार पालन किया है।"

गोविन्ददास जी का 'कुलीनता' भी ऐतिहासिक नाटक है।

कुलीनता

इस नाटक पर महाभारत मे कर्ण द्वारा कहे हुए श्लोक का एक चरण आदर्श वाक्य के रूप मे लिखा हुआ है। यह चरण है—"दैवायत्त कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्" अर्थात् "किस कुल मे जन्म होता है यह दैव के हाथ है, परन्तु पौरुष मेरे हाथ।" सारे नाटक मे इसी विचार का विकास हुआ है। इस नाटक की कथा उस काल की है जब त्रिपुरी पर हैहयवशी कलचुरि क्षत्रियो का राज्य था। कलचुरि वश मे गांगेयदेव और कर्णदेव बड़े प्रसिद्ध सम्राट् हो चुके थे, परन्तु अब कलचुरियो मे निर्बलता आ गई थी और विलासप्रियता का दौर-दौरा था। उस वंश के अन्तिम राजा अजयसिंह देव का राज्य था। शहाबुद्दीन गोरी ने उत्तर भारत के अनेक हिन्दू राजाओ को हरा त्रिपुरी के पड़ोसी कालिंजर राज्य पर भी विजय प्राप्त कर ली थी—और उसके गोरी लौट जाने पर उसका उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक त्रिपुरी पर भी हमला करने वाला था। इस हमले को बचाने के उद्देश्य से अपने

सेनापति की सम्मति के अनुसार अजयसिंह देव ने सन्धि के लिए कुतुबुद्दीन ऐबक का माण्डलीक राजा बनने की स्वीकृति भेजी थी। अजयसिंह देव अपनी सभा मे बैठे हुए थे। नृत्य और मद्यपान हो रहा था। यह था त्रिपुरी पर आक्रमण के बचने की खुशी मे। इसी अवसर पर राज्य के महामंत्री सुरभी पाठक ने सभा मे प्रवेश कर इस राग रग को बन्द करने की आज्ञा दी। वे वृद्ध ब्राह्मण थे और इस प्रकार की सन्धि के स्थान पर स्वतंत्रता की रक्षा के लिए युद्ध चाहते थे। यहीं से नाटक का आरम्भ हुआ है। महामंत्री का राजा और सारे राज्य पर अत्यधिक प्रभाव था। उनकी आज्ञा ने उस राग रंग को भंग कर दिया और राजा, मंत्री एवं सेनापति मे युद्ध और शान्ति मे कौन मार्ग श्रेयस्कर है इसपर विवाद चल पड़ा—

"अजयसिंह देव—...... फिर एक ओर अनेक निर्दोषो का व्यर्थ ही रक्त बहाना है, अनेको को क्रीतिदास बनवाना है, मूर्तियो को तुड़वाना और मन्दिरो को भ्रष्ट करवाना है, धर्म के नाम पर घोर अधर्म करना है और दूसरी ओर यह सन्धि है।

"सुरभी पाठक—कैसा अधर्म परम भट्टारक ? कुछ का रक्तपात और कुछ के क्रीतिदास बनने का भय मनुष्य को उसके सच्चे कर्तव्य से च्युत नही कर सकता। स्वतन्त्रता और सद् सिद्धान्तो की रक्षा होते हुए एक चिऊँटी तक के प्राण न जायें तो बड़ी उत्तम बात है, पर स्वातन्त्र्य और सद सिद्धान्तो की रक्षा बिना युद्ध के यदि सम्भव नही है

तो अक्षौहिणियो की भी कोई गणना नही। भगवान बुद्ध का अहिंसा सिद्धान्त उच्च, अत्यन्त उच्च है, पराये राज्य पर आक्रमण कर व्यर्थ के रक्त-पात को मै वीरता नही, पर नीचता की कृति मानता हूँ, पर, स्वातन्त्र्य की और सच्चे सिद्धान्तो की रक्षा के लिए अहिंसा के द्वारा जब तक कोई उपाय ससार मे नही निकल आता तब तक हिंसा के भय से देश को परतन्त्र और देश निवासियो को दास नही बनाया जा सकता। मूर्तियो और मन्दिरो से आपका क्या अभिप्राय है महाराज! यह तो वही बात है जो सिन्ध मे हुई थी, मुसलमानो के सिन्ध विजय के पश्चात् कान्यकुब्ज नरेशो के बलवान होने पर भी उन्होने इसीलिए सिन्ध पर आक्रमण नही किया कि मुसलमान डर बताते थे कि सिन्ध पर आक्रमण होते ही वे मुल्तान् की प्रसिद्ध मार्तण्ड मूर्ति को तोड डालेंगे। श्रीमान् मै वैसा ब्राह्मण नही हूँ कि कुछ मन्दिरो के मस्जिद बनने के भय और कुछ मूर्तियो के टूटने के डर से देश की स्वतन्त्रता को खो दूँ। देश स्वतन्त्र रहा तो अगणित मन्दिरो और मूर्तिओ की स्थापना हो जायगी।"

यह विवाद बहुत बढ़ा। जब सेनापति ने युद्ध न करने पर ही ज़ोर दिया तब मन्त्री ने सेनापति को उसके कार्य के अयोग्य बता सेनापति का पद यदुराय नामक गोड़ को देने का प्रस्ताव किया। गोड़ इस समय अस्पृश्य थे। यदुराय गोड़ो का युवक नेता और अजयसिंह देव की पुत्री रत्नावली का प्रेमी था।

इसी अपराध पर उसका त्रिपुरी से निष्कासन हुआ था। एक अस्पृष्य कलचुरियो के कुलीन राज्य का महासेनापति! यह बात ही अचिन्त्य थी। अजयसिंह ने सुरभी पाठक को पदच्युत कर उन्हे बन्दी करने की आज्ञा दी। सुरभी पाठक बन्दी न हो सके। वे भागे और यदुराय से मिलकर एक नवीन सेना का सगठन कर उन्होने त्रिपुरी राज्य को फिर से स्वतन्त्र राज्य बनाया। अस्पृश्य यदुराय का कुलीन क्षत्रिय कलचुरि वंश की राजकुमारी रत्नावली से विवाह हुआ और अजयसिह देव के पुत्र न होने के कारण यदुराय ही त्रिपुरी का राजा हुआ। यह नवीन कुल इतिहास मे राज-गोड़ नाम से विख्यात है। गोड़ो की अस्पृश्यता का अन्त इसी महान घटना के पश्चात् हुआ है। इसी कुल मे आगे चलकर वीरांगना महारानी दुर्गावती हुई हैं।

यह नाटक भी अपने काल का सजीव चित्र है और इसके यदुराय, सुरभी पाठक, रत्नावली, उसकी सखि चन्द्रभागा आदि पात्रो के भावो का नाटक मे अपूर्व दिग्दर्शन कराया गया है।

निष्कासित यदुराय अपने मित्र मंडला के गोड़ राजा नागदेव से कहते हैं—

"यदुराय— ..... किसी भी कारण जिन्हे उच्च-पद प्राप्त है या जो संयोग वश उच्चकुल मे उत्पन्न हो जाते है, वे अपने से निम्न, या निम्न कहे जाने वाले कुलो मे जन्म लेने वाले व्यक्तियो को चाहे वे निम्न व्यक्ति सयोग से ही निम्न हो, विचारों मे

और कृतियो मे उन उच्च और कुलीन कहे जाने वालो से कितने ही उच्च हो, हेय दृष्टि से देखते है, यह ऊँच नीच भावना मानव समाज के रुधिर मे प्रविष्ट हो गई है। ....
हम गोड़ो के लिए जो इस प्यारी भूमि के आदि निवासी है, जिस भूमि के (सामने के खेतों और मैदानों की ओर संकेत कर) इन लह-लहाते खेतो और मैदानो, (सामने की ओर के पहाड़ों को लक्ष्य कर) इन सुन्दर पर्वत श्रेणियो और उनके वनो, वृक्षो, लताओ, पुष्पो और फलो, (दूर पर बहती हुई नर्मदा की ओर संकेत कर) इन नदियो और झरनो पर पहले हमारा अधिकार था, उन्ही गोड़ो के लिए इन ब्राह्मणो और क्षत्रियों के हृदय मे कैसे विचार है उसे तुम नही जानते मित्र !

"नागदेव—कई बार तुमने कहा अवश्य है।

"यदुराय—पर कहने से वह पूर्ण रीति से अनुभव नही किया जा सकता। वे हमे पशुओ से भी निकृष्ट समझते है, हममे कितने ही उच्च गुण क्यो न हो, हम उनके राज्यो मे किसी भी उत्तरदायी पद पर आसीन नही हो सकते। हम कितने ही सुन्दर क्यो न हो, हम उनकी कन्याओ से विवाह नही कर सकते। हम कितने ही स्वच्छ क्यो न रहे, हमारा छुआ हुआ भोजन उनके खाने योग्य नही रह जाता। इतना ही नही, यदि देश पर आपत्ति आवे, तो यद्यपि हम उनकी अपेक्षा इस देश के पुराने निवासी हैं, हमे अपने देश की रक्षा करने का भी अधि-

कार नही है। और हमारा दोष क्या है? गोड़-कुल मे जन्म ही हमारा दोप है .. । जब मै सुनता था कि शहाबुद्दीन गोरी की सेना ने दिल्लीपति पृथ्वीराज की सेना को परास्त किया, कान्यकुब्ज-पति जयचन्द को हराया, महोबा-पति परमाल देव पर विजय प्राप्त की, तब मेरे शरीर में विद्युत दौड़ जाती थी, मै विचारने लगता था कि जब जव त्रिपुरी पर उसका आक्रमण होगा तब त्रिपुरी राज्य की रक्षा मै करूँगा।

"नागदेव—धन्य है तुम्हारा साहस और देश-भक्ति।

"यदुराय—सेना मे साधारण भट होने पर भी मै महा-सेना-पति के समान विचारो मे डूबा रहता था। मिट्टी और कागज़ो पर मै युद्ध-क्षेत्र और सेना के आवागमन के मार्गों के मानचित्र बनाता था। एक नही, इस प्रकार के सैकडो मानचित्र मैने बना डाले होंगे।

"नागदेव—धन्य है तुम्हारा उत्साह।

"यदुराय—मै यद्यपि अकुलीनो के प्रति कुलीनो के भावो को जानता था, पर वे भाव इतने गहरे है, यह मुझे उस समय तक ज्ञात नही था। मै नही जानता था कि अकुलीन होने के कारण इन सब विचारो को कार्य-रूप मे परिणित करने का मुझे अधिकार ही नही है। . . .. चलो, वही चलो, जहाँ कुलीनता, अकुलीनता की एकता है, जहाँ

क्षत्रिय और गौड़ की एक गति है जहाँ ऊँच-नीच का कोई भेद भाव नही है—वही मुझे सान्त्वना मिलती है, वही।

"नागदेव—कहाँ? स्मशान मे?

"यदुराय—देखो मित्र, कैसा सुन्दर और रमणीय स्थान है, इसीलिए तो गौडो के आदि देव शकर इसी भूमि मे विहार करते हैं, यहाँ तुम्हे कही भेद-भाव दृष्टिगोचर होता है? (एक बुझी हुई चिता के निकट जा कुछ राख उठाकर) यह कुलीन के शव की राख है या अकुलीन के? (दूसरी बुझी हुई चिता की राख उठाकर) इस राख और उस राख मे कोई अन्तर है? (एक जलती हुई चिता के निकट जाकर) इसमें किसका शव है? यदि एक मे कुलीन का है और दूसरी में अकुलीन का, तो इन दोनो के जलने की विधि मे तो कोई अन्तर नही है न? (एक खोपडी उठाकर) यह किसकी खोपडी है? कुलीन की या अकुलीन की? कोई भी कह सकता है मित्र? कोई नही; परन्तु जब इसके भीतर मज्जा होगी और ऊपर चर्म एव केश होगे, जब इसकी नाडियो में रक्त संचार होता रहा होगा, इसकी आँखो के इन दोनो गड्ढो में आंखें होगी और इसके दाँतो के बीच मे जीभ, उस समय यदि यह किसी कुलीन के सिर पर लगी होगी तो इसमे अकुलीनो के लिए कैसे भाव उठे होगे? इसकी आँखो ने अकुलीनो को कैसी हेय दृष्टि से देखा होगा? इसकी जीभ ने अकुलीनो का कितना तिरस्कार किया होगा? (खोपड़ी को फेकते हुए) चल, दूर हट, कुलीनो की खोपड़ी! (उसे फिर उठाकर) नही नही,

मित्र, मैंने निरर्थक ही इस खोपड़ी का अपमान किया। कदाचित् यह किसी अकुलीन की ही हो।"

सुरभी पाठक यदुराय से कहते है—

"सुरभी पाठक—जिस दिन तुम्हारे हाथो त्रिपुरी का उद्धार हो जायेगा, उसी दिन आप से आप अपने को कुलीन कहने वाले इन पतितो का पतन और तुम्हारा उत्कर्ष हो जायगा। चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्र था पर जैसे ही उसने देश से विदेशियो को निकाल बाहर किया वैसे ही उसका ऐसा उत्कर्ष हुआ जैसा उस समय के किसी कुलीन का न हुआ था। प्रश्न इन पतित कुलीनो से बदला लेने का नही, पर देश को स्वतत्र करने का है।"

रत्नावली यदुराय के निष्कासन पर अपनी सखी चन्द्रभागा से कहती है—

"रत्नावली—उन्हें इसीलिए निर्वासित किया गया है न कि वे अकुलीन है और मेरे संग उनका रहना—यह परम भट्टारक की कुल मर्यादा के विरुद्ध समझा गया ?

"चन्द्रभागा—हाँ, और कोई दोष तो उनमे नहीं सुना गया; वरन् यह सुना जाता था कि सेना के कार्य मे उनकी अद्भुत और तीव्र गति थी—ऐसी कि जैसी किसी बलाधिकृत की भी नही थी।

"रत्नावली—और इतने पर भी वे साधारण भट थे ?

"चन्द्रभागा—कुलीनता के गर्व से गर्वित कलचुरियो के राज्य मे कोई पद अकुलीनो को मिले यह कैसे हो सकता है ?

रत्नावली—(ऊपर देखकर) चन्द्रभागा, चन्द्रमा की ये किरणें—दोनो ओर की चट्टानो को भी उसी प्रकार आलोकित करती है, जैसे मनुष्य शरीर को।

"चन्द्रभागा—ठीक उसी प्रकार राजकुमारी।

"रत्नावली—फिर क्या गुणो का आलोक कुलीनो और अकुलीनो दोनो के अन्तःकरणो को समान रूप से प्रकाशित न करना होगा ?

"चन्द्रभागा—मै नही कब कहती हूँ ? मै तो इस वंश की परम्परागत रीति तुम्हे बता रही हूँ।

"रत्नावली—(ऊपर देखकर) इस चन्द्र मे, इसके कुटुम्बी तारागणो मे, (चट्टानों को देखकर) इन चट्टानो मे, (चट्टानों के ऊपर देखकर) इन चट्टानो के ऊपर के वन मे, (नीचे जल को देखकर) और इस नर्मदा के जल मे कोई कुलीनता अकुलीनता का भेद नही दिखता।

"चन्द्रभागा—सत्य है रत्नावली।

"रत्नावली—समस्त सृष्टि के पदार्थ एक दूसरे के साथ प्रेम से निवास करते हुए दिखायी देते हैं। यह चन्द्र अपनी शीतल किरणो का सुख, सभी को पहुँचाता है, यह नर्मदा अपने निर्मल नीर से सभी को प्रफुल्लित करती है, फिर मनुष्य ने ही एक दूसरे के बीच मे भेद भाव की इस खाई को क्यो खोद रक्खा है ?

"चन्द्रभागा—इसीलिए तो मनुष्य दुःखी है राजकुमारी, उसके सारे दुःखो की मूल यह भेद बुद्धि ही है ।

"रत्नावली—तो सखी, बहुत दिनो से जो निश्चय न कर सकी थी वह आज मैंने कर लिया, अभी तुमसे कहा था न कि मै क्या करूँगी।

"चन्द्रभागा—हाँ, कहा था। क्या निश्चय किया ?

"रत्नावली—वह, मानव समाज के इस भेद भाव का नाश ही मेरे जीवन का कार्य होगा ?

"चन्द्रभागा—अब तो अपने कुल मे सघर्ष से ही इसका श्री गणेश होगा।"

रत्नावली त्रिपुरी के सेनापति चण्डपीड़ को उसके साथ विवाह करने के प्रस्ताव पर उत्तर देती है:—

"रत्नावली—वह मनुष्य नही देवता है, उसने उसी देश को स्वतन्त्र करने का बीड़ा उठाया है जिससे तुमने विदेशियो के हाथ बेच दिया है। थोड़ा उसे देखो और अपने को देखो, थोड़ा उसके हृदय के साथ अपने हृदय की तुलना करो, थोड़ा उसकी छबि के साथ अपनी छबि का सामजस्य करो। उसमे शौर्य, त्याग और महानता है, तुममे षड्यन्त्र, स्वार्थ और नीचता।"

चन्द्रभागा अपने पति देवदत्त से जो त्रिपुरी का उपसेनाध्यक्ष है कहती है—

"जब देश के इस काल का इतिहास लिखा जायगा उस

समय ये पदाधिकारी जो अपने को देव-तुल्य समझते है, साधारण मानवों के रूप मे भी नही, परन्तु राक्षसो और पिशाचो के रूप मे चित्रित किये जायगे। जो बिचारे भट है उनको नाम ले लेकर तो उन्हे कोई न कोसेगा, क्योकि उनके नाम इतिहास मे अकित ही नही रह सकते, पर ये पदाधिकारी तो नाम ले लेकर कोसे जायँगे। .. .. बलाधिकृत के नाते दुष्कर्म करने की अपेक्षा साधारण भट के नाते सत्कार्य करने का अधिक महत्व है।"

जब अगणित प्रयत्न करने पर भी चन्द्रभागा अपने पति को ठीक मार्ग पर नही ला सकती तब वह स्वयं देश के स्वातन्त्र्य सग्राम मे युद्ध करने का निश्चय करती है—

"चन्द्रभागा—अच्छा नाथ, तो फिर पत्नी पति के पाप का प्रायश्चित करेगी, त्रिपुरी को विदेशियो के हाथ बेचने वालो का पक्ष लेकर आपने जो युद्ध किया है उसका प्रायश्चित मै करूँगी। आपकी अर्द्धांगिनी के नाते मृत्यु लोक मे अपना कलक धोऊँगी। और परलोक मे आपको नरक मे न गिरने देकर स्वर्ग मे खीचकर ले जाऊँगी। अब आपसे रणक्षेत्र पर ही भेंट होगी।"

यदुराय की विजय और रत्नावली के साथ उसके विवाह के पश्चात् जब यदुराय सम्राट और रत्नावली साम्राज्ञी होने जा रहे है तब चन्द्रभागा रत्नावली से कहती है—

"चन्द्रभागा—संसार में प्रायः यह होता है कि सत्ता और सुख मिलने के पूर्व मनुष्य बहुत से बड़े बड़े शुभ संकल्प किया करता है, परन्तु जहाँ सत्ता प्राप्त हुई और सुख मिला कि सब संकल्पो को विस्मृत कर उस सुख मे लिप्त हो जाता है और उस सत्ता का उपयोग अपने सुख की पूर्ति के लिए करने लगता है . . तुम्हारे पति, महामंत्री जी की सम्मति से राज्य कार्य बड़ी उत्तमता से चलायेंगे, परन्तु, जो राज्य केवल पुरुषों के हाथ मे रहता और केवल नियमो के अनुसार ही चलता है उसमे हृदय और विशेषकर नारी हृदय की कोमलता से जो एक प्रकार के कार्य हो सकते हैं, उनका अभाव रह जाता है।... .. इस महादेवी के पद से अपने स्वाभाविक कोमल हृदय द्वारा जब तुम प्रजा की सेवा करोगी तब तुम्हारे राज्य मे वह अभाव भी न रह जायगा।"

नाटक का अन्त होता है अजयसिंह देव के इस कथन से—

"अजयसिंह देव—जिन्हे कुछ समय पूर्व जिस धर्म के अनुसार प्राणदण्ड की व्यवस्था दी गई थी, जिस राज्य मे दी गई थी, उसी धर्म के अनुसार और उसी राज्य मे उन्ही का यह उत्कर्ष, इस बात को सिद्ध कर देता है कि ससार मे कर्म ही मुख्य है और कुलीनता कर्म पर ही निर्भर है। . जिसने देश को विदेशियो से स्वतन्त्र किया है, जिसने आज वह कर्म करके बताया है जो बड़े बड़े कुलीन भी न कर सके थे—वही इस राज्य का सच्चा अधिकारी है और आप सबकी सम्मति से उसी को

मै त्रिपुरी का राज्य तिलक कर यह राज्य मुकुट, राज्य दण्ड तथा समस्त राज्य चिह्न अर्पण करता हूँ।"

विश्वासघात

विश्वासघात नाटक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना पलासी के युद्ध की कथा पर है। इस नाटक का आरम्भ होता है बगाल के मत्री रायदुर्लभ, सेनापति मीरज़ाफर और दो व्यापारी जगत सेठ तथा अमीचद की गुप्त मत्रणा से, और अन्त होता है बगाल के नवाब सिराजुद्दौला के वध से। रायदुर्लभ पाखण्डी, धर्मनिष्ठ विश्वासघाती है, मीरज़ाफर बुज़दिल विश्वासघाती और जगत सेठ तथा अमीचन्द स्वार्थी विश्वासघाती। इन विश्वासघातियो का नेता है अमीचन्द जो अंग्रेजो और इन कुचक्रियो के बीच दलाली का सारा कार्य करता है। सिराजुद्दौला के साथ उसके कर्मचारी और प्रजाजन विश्वासघात करते है और अमीचन्द के साथ क्लाइव। अमीचन्द का छोटा भाई चन्द्रविलास, जिसका विवाह आगे चलकर जगत सेठ की पुत्री रोहिणी से होता है, दूरदर्शी, दार्शनिक और देशभक्त व्यक्ति है। सिराजुद्दौला विलास प्रिय होते हुए भी बहादुर मनुष्य है और उसकी तिरस्कृत की हुई बेगम लुत्फुन्निसा हिन्दू होने के कारण सच्ची पतिव्रता। नाटक अपने समय का सजीव चित्र होते हुए शृंगार, वीर और करुण रसो से ओत-प्रोत भरा हुआ है। इस नाटक के भी कुछ उद्धरण देखिए—

चन्द्रविलास अपने गुमाश्ते से कहता है—

"चन्द्रविलास—वात तो यह है कि जो यहाँ आता है, उसे कोई न कोई सहायक मिल ही जाता है। मुसलमानो को जयचन्द ने निमन्त्रण दिया था और यदि उड़ती हुई बाते सत्य हैं तो अंग्रेजो को सहायता दे रहे हैं मेरे भाई अमीचन्द।"

अमीचन्द और चन्द्रविलास मे अंग्रेजी राज्य के सम्बन्ध मे वार्तालाप होता है—

"अमीचन्द—अभी नवाबी मे जो मनमानी होती है, यह सब बन्द हो जायेगी। सब कार्य नियमानुसार होंगे। सब बातो के कानून कायदे बन जायेंगे। लोगो को इस प्रकार के कर न देना पड़ेगे। सतियो का सतीत्व बचेगा। दीनो को भोजन मिलेगा। देश के व्यापार और कला कौशल एव कृषि की वृद्धि होगी। नित्य नये नये आविष्कार होगे। जैसे इंग्लैड की प्रजा सुख भोग रही है वैसा भारतीय प्रजा को भी मिलेगा। ... अंग्रेजो से बढ़कर न्याय-परायण और प्रबन्ध करनेवाली संसार मे कोई दूसरी जाति ही नही है। यह तो इस अभागे देश का सौभाग्य उदय हुआ है कि अंग्रेज जाति यहाँ पर आयी है। भाई, अब यहाँ सतयुग आ जायगा, सतयुग।

"चन्द्रविलास—सतयुग तो समय पर ही आयगा भाई साहब, पर यहाँ का सत् निकलकर सात समुद्र पार अवश्य चला जायगा। आप भारी भूल कर रहे है।

"अमीचन्द—कैसे?

"चन्द्रविलास—मै निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि किसी भी देश की भलाई किसी विदेशी जाति द्वारा नही हो सकती

"अमीचन्द—और मुसलमान जो इस देश मे है ?

"चन्द्रविलास—मुसलमान भी इस देश मे विदेशी है, इसमे सन्देह नहीं।

"अमीचन्द—फिर ?

"चन्द्रविलास—परन्तु अब वे शनै. शनैः इस देश के होते जा रहे हैं, दूसरे अब उनका यहाँ से निकलना सम्भव नही। आप अंग्रेजो को सहायता दे एक और समस्या न खड़ी कीजिए। ... . . जो आज आपको रक्षक दिखते है, कल वे ही आपके भक्षक हो जायँगे। आज आप इन्हे बुलाने तो जा रहे है, बुलाना तो आपके अकेले हाथो मे है, पर स्मरण रखिए इन्हे निकालना भारत की करोड़ो भुजाओ की शक्तिके बाहर हो जायगा।"

यह संवाद आगे बढ़ता है—

"अमीचन्द— ... मुसलमानो की और अंग्रेजो की समता नही हो सकती।

"चन्द्रविलास—क्यो ? वे भी विदेशी थे, ये भी विदेशी है।

"अमीचन्द—पर वे इस देश को लूटने के लिए आये थे और अंग्रेज लोग उद्योग-व्यापार द्वारा इसे धनवान बनाने और इसकी रक्षा करने आये हैं। मुसलमानो ने यहाँ की मूर्तियाँ तोड़ी, तीर्थों को भ्रष्ट किया, जज़िया कर लगाया, बहू-बेटियो का सतीत्व नष्ट

किया, और क्या नही किया ? अंग्रेज़ इतनी सभ्य और न्याय-परायण जाति है कि भूल से भी उसके द्वारा ये अनर्थ नही हो सकते।

"चन्द्रविलास—ये अनर्थ न सही, इन्ही के भाई दूसरे अनर्थ होगे। यदि मुसलमानो ने पाशविक अत्याचार किये हैं तो अंग्रेज़ो के सभ्यता पूर्ण अत्याचारो कीभी एक सूची बनेगी। फिर मुसलमानो के अत्याचारो से तो लड़ने का बल हमारी आत्मा और हृदय मे बना रहा, परन्तु यह ऐसी जाति जान पड़ती है कि इसके अत्याचार गुप्त रूप से, बिना हमारे जाने ही, हमारे हृदय और हमारी आत्मा पर होगे। मुझे तो यह भासता है भाई साहब, कि यदि इस जाति का इस देश पर अधिकार हुआ तो इस देश मे भीतर ही भीतर ऐसा घुन जम जायगा कि भारतवष की यह वीर जाति कायर हो जायगी।"

धर्मनिष्ठ रायदुर्लभ को, बंगाल मे इस समय जो कुछ हो रहा है, सभी धर्मानुकूल दिखायी देता है।

"रायदुर्लभ—ठीक। और पंडित जी! यह सब धर्मानुसार हो भी रहा है ? .... धर्मानुसार ही नवाब ने अंग्रेज़ो के किले का काम बन्द करने के लिये आज्ञा भेजी, क्योकि वह अपनी सत्ता सुरक्षित चाहता है।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—धर्मानुसार ही ड्रेक ने उसका अपमान किया,

क्योकि उसका उद्देश्य नवाब से झगड़ा ठान ब्रिटिश राज्य की नीव जमाना है।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—इस पर धर्मानुसार नवाब ने उनकी कासिम बाज़ार की कोठी छीनकर कलकत्ते पर चढ़ाई करने का विचार किया, क्योकि यह उसकी सहनशक्ति के बाहर की बात थी।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—मीरजाफर ने भी धर्मानुसार ही नवाब को चढ़ाई करने की सम्मति दी, क्योकि वह स्वय नवाब होना चाहता हैं और सिराजुद्दौला को पराजित किये बिना उसका नवाब होना सम्भव नही है।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—धर्म के विरुद्ध तो किसी का भी आचरण नही है पडित जी!

"कैलाशनाथ—नही श्रीमान्।

"रायदुर्लभ—मै भी अपना धर्म निबाह रहा हूँ। तटस्थ बैठे हुए इस सबका निरीक्षण करते रहने और समय पर सम्मतियॉ दे देकर इस अन्याय पूर्ण राज्य का अन्त करना मेरा धर्म है।

"कैलाशनाथ—सर्वथा।

"रायदुर्लभ—अब तक जो कुछ हुआ है उसमें कही और किसी का भी धर्म-भग दृष्टिगोचर नही होता पडित जी। और

ऐसे तो हर बातों मे दोष निकल सकता है, भगवान ही कहते हैं—'सर्वारम्भाहि दोषेण धूमेनाग्निः इवावृताः'। नारायण, नारायण।"

पलासी के युद्ध मे अंग्रेजो की जीत के बाद एक खण्डहर मे खड़े हुए चन्द्रविलास और रोहिणी के सवाद को सुनिए—

"चन्द्रविलास—देखो प्रिये! इस अन्धकार मे कही न कही प्रकाश तो दिखेगा ही। किसी न किसी को आनन्द तो होवेगा ही। अंग्रेजो की राज्य स्थापना का आनन्द मनाया जायगा। सिराजुद्दौला की जीत होती तो भी मुर्शिदाबाद मे विजयोत्सव होता। और आज भी वहाँ तो विजयोत्सव ही होगा। राजप्रसाद उसी प्रकार सजाया जायगा, राजमार्ग उसी प्रकार सुसज्जित किये जावेंगे, गृह उसी प्रकार सजेगे। तोरण लगेंगे, वन्दनवार बधेंगे, मगल कलश रखे जायँगे और चौक पुरेंगे। रात्रि को दीपावलि से दिन सा प्रकाश होगा। वही नाच-रग होगा, वही राजसभाएँ होगी और यह सब होगा प्रजा के सहयोग से। अभी भी इस देश मे 'कोऊ नृप होय हमे का हानी' की उक्ति पूरी रीति से चरितार्थ हो रही है।

"रोहिणी—यही बात है।

"चन्द्रविलास—देखना है प्रिये! कभी यहाँ वैसा भी अवसर आता है जब प्रजा के अधिकार मे राजा का निर्माण हो। सिराजुद्दौला की विजय से भी प्रजा उत्सव करती और अंग्रेजो की विजय पर भी उत्सव मनायेगी। देखना है प्रिये, प्रजा मे वह ज्ञान, वह स्वाभिमान, वह बाल, वह शक्ति कब उत्पन्न होती

है, जब वह उन्ही उत्सवो को करे, उन्ही मे आनन्द मनाये, जो देश की प्रतिष्ठा के अनुकूल हो।

"रोहणी—समय पर सब होकर रहेगा प्यारे! तुम्हारे हृदय मे अकुरित इन सिद्धान्त रूपी पौधो मे समय पर फल आये बिना न रहेंगे। जिस भारत ने ईश्वर तक को पहचान लिया था, वह अपने को पहचाने बिना न रह सकेगा, केवल दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है।

"चन्द्रविलास—पर प्रिये! अभी तो सब कुछ गया, तुम देखोगी कि इस देश की सम्पत्ति से अब योरप की श्री वृद्धि होगी। जो कुछ बचा है वह यहाँ से सात समुद्र पार जायगा। यहाँ दरिद्रता का भीषण ताण्डव होगा। इस भूमि के सन्तति के "त्राहि त्राहि और पाहि पाहि" चीत्कारो से यह समृद्धि शाली रत्न-गर्भा वसुन्धरा, यह पुण्य भूमि, स्मशान तुल्य बन जायगी। दृष्टि कोण बदलते बदलते कही नाश का समय न आ जावे। स्वर्ग की ओर लगी हुई आँखो को झुकाते झुकाते, मातृभूमि की ओर लगाते लगाते, कही ये आँखे ही नष्ट न हो जावें।

(ऊपर से एक ईंट गिरती है। दोनों शब्द से चौंक पडते हैं। चन्द्रविलास ऊपर देखता है फिर नीचे देख उस ईंट को उठा लेता है।)

"चन्द्रविलास—(रुककर) प्रिये! इस ईट का पतन मुझे चलने से रोकता सा जान पड़ता है। इस खण्डहर ने हम लोगो को बहुत देर आश्रय दिया है। अब इस ईट ने गिरकर

क्षण मात्र ही मे मेरे हृदय मे एकाएक नवीन विचार का श्रोत बहा दिया।

"रोहिणी—कैसा प्राणेश ?

"चन्द्रविलास—किसी समय यह न जाने कितने उद्योग से जोड़ी गई होगी।

"रोहिणी—अवश्य ।

"चन्द्रविलास—(बुर्जों झरोखों की ओर संकेत कर) ये सब क्या हैं ?

"रोहिणी—इसी प्रकार की ईंटो के समुदाय ।

"चन्द्रविलास—ठीक, आज यद्यपि ये जीर्ण-शीर्ण होकर टूट फूट गये है पर किसी समय सारे वंग देश की शिल्प-कला इस खण्डहर के निर्माण मे व्यय हुई होगी। हर ईंट को व्यवस्था और प्रबलता से जोड़ा गया होगा। इन झरोखो मे पाल और सेतवश की रानी-महारानियाँ और राजकुमारियाँ अठखेलियाँ करती होगी। इन बुर्जों पर उन राज्यो के झंडे फहरा फहरा कर आकाश को छूने का प्रयत्न करते होगे। (नीचे के खुर्रों को दिखाकर) इन पर से घोड़े, रथ और हाथियो के झुण्ड के झुण्ड जाते आते होगे। फिर यहाँ न जाने कितने युद्ध हुए होगे, कितना रक्त बहा होगा। और वह कैसा लोहित रोहिणी; न जाने कितने पीछे न हटने वाले वीरो के हृदयो का, न जाने कितने अपनी प्रियतमाओ की मूर्ति से अंकित हृदयो का।

"रोहिणी—अवश्य।

"चन्द्रविलास—आज उसी स्थान की यह दुर्दशा हुई है। मनुष्य कृति से भगवत कृति कितनी बलवान है, उसका यह स्थान जीता जागता दृष्टान्त है।

"रोहिणी—इसमे सन्देह नही।

"चन्द्रविलास—(ईंट को देखकर) यह ईंट साधारण मिट्टी की ईंट नही है रोहिणी। इस ईंट पर इस देश के अतीत गौरव का इतिहास लिखा है। और इन ईंटो की बहन यह ईंट इसलिए पृथक हुई है कि इनके बीच का वह चूना निकल गया है, जो दोनो को मिलाकर बलवान बनाये हुये था। इस सारे देश, इस बगाल की भी, आज ठीक यही दशा है। सम्राट् अकबर द्वारा निर्धारित हिन्दू मुस्लिम ऐक्य रूपी चूने को यदि हिन्दू और मुस्लिम जातियो रूपी ईंटो से औरगजेब ने पृथक न कर दिया होता तो आज यह सोने का महल खंडहर न दिखाता। यह अगरेज जाति क्या है ? सात समुद्र पार से आयी हुई यह जाति इस विशाल देश मे हवा के झोके के बराबर है। प्रिये ! इस ईंट के गिरने से न जाने क्यो मेरे हृदय मे यह भाव उठ रहा है कि अब अपना प्रयत्न निष्फल है। मुझे तो यही देख पड़ता है कि भारतवर्ष की दशा एक बार इस खण्डहर के सदृश होकर रहेगी (आँसू भर आते हैं)

"रोहिणी—(ईंट को चन्द्रविलास के हाथ से लेकर फेकते हुए) तुम तो न जाने कहाँ कहाँ की बातें सोचते हो। तुम स्वयं कहते हो कि प्रयत्न करना मनुष्य का काम है। तब फिर यो

दुखी क्यो होते हो ? हमारा काम प्रयत्न करना ही तो है। तब उसमे कमी क्यो ?

"चन्द्रविलास—(लम्बी साँस लेकर) यह न सोचो प्रिये! कि मै प्रयत्न से विमुख होना चाहता हूँ। मै जानता हूँ कि निर्माण और विनाश मे ही ससार का सौन्दर्य, और उसी मे ससार की प्रगति है। यदि विनाश के भय से निर्माण का कार्य बन्द हो जावे तब तो इस ससार का कार्य ही बन्द हो जायगा। प्राण रहते उद्योग अवश्य करूँगा। फल भगवान के हाथ है।"

सिराजुद्दौला के वध पर नाटक के अन्तिम वाक्य चन्द्रविलास ने इस प्रकार कहे है—

"चन्द्रविलास—(भर्राये हुए स्वर में) रोहिणी! रोहिणी! हाय यह क्या हुआ ? अमीचन्द के विश्वासघात, रायदुर्लभ के विश्वासघात, मीरजाफर के विश्वासघात, और यही समस्त विश्वासघातियो के विश्वासघात का फल है। चाहे औषधि का परिणाम न हो, विष का होकर ही रहता है। हे भगवन्! अब यह देश!"

सामाजिक नाटक

प्रकाश सामाजिक नाटक है। इसकी कथा का काल है सन् १९३३। कथा साधारण है, परन्तु साधारण कथा मे इस समय का उच्च श्रेणी का भारतीय समाज अत्यधिक सजीवता और स्वाभाविकता से से चित्रित है। मुख्य पात्रो मे उनके समुदाय का चित्रण किया गया है जिससे उनका व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण ही नही हुआ है, परन्तु उनके समुदायो का भी चित्रण हो गया है। पुरुष पात्रो मे राजा अजयसिंह के चरित्र मे गिरते हुए जमीदार, दामोदार गुप्ता मे चढ़ते हुए पूँजीपति और व्यापारी, आनरेबिल धनपाल मे उस काल के मिनिस्टर, पडित विश्वनाथ मे हिन्दूसभा वादी, मौलाना शहीदबख्श मे मुस्लिम लीगर, कन्हैयालाल वर्मा में पत्रकार और डाक्टर नेस्टफील्ड मे हमे वकील समुदाय देखने को मिलते है। स्त्री पात्रो मे दामोदरदास की पत्नी मे इस समय

प्रकाश

की पश्चिमी सभ्यता का अनुयायी और मनोरमा मे गान्धीवाद का अनुयायी स्त्री समाज दिखायी देता है। मनोरमा को छोड़कर उपर्युक्त शेष सभी पात्र धूर्त और ढोंगी है। इस धूर्तता का परदा फाश करता है देहात से शहर मे आनेवाला एक युवक प्रकाशचन्द्र। प्रकाशचन्द्र राजा अजयसिंह की परित्यक्ता पत्नी तारा का पुत्र है, परन्तु न तो प्रकाशचन्द्र यह बात जानता है और न अजयसिंह। जब अजयसिंह की ही इस दरख्वास्त पर, कि प्रकाशचन्द्र उनके गांवो मे बलवा कराने का यत्न कर रहा है, प्रकाशचन्द्र को सरकार गिरफ्तार करती है, तब अजय-सिंह को यह बात मालूम होती है। प्रकाशचन्द्र ही नाटक का नेता है। उसकी मां तारा आदर्श माता है और माता-पुत्र के संवाद मे नाटक के दार्शनिक विचारो का खूब ही विकास हुआ है। प्रकाशचन्द्र गिरफ्तार हो जाता है, पर गिरफ्तार होते होते वह इस शहराती समाज के नेताओ को उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर देता है जैसे किसी चिनी मिट्टी के बर्तन की दूकान मे कोई सांड़ घुसकर वहां के बर्तनो के टुकड़े टुकड़े कर डाले। इसीलिये अंग्रेजी मे इस नाटक का नाम है—"A Bull in a China Shop" नाटक का आरम्भ होता है राजा अजयसिंह द्वारा गवर्नर को दिये गये एक प्रीति-भोज से और अन्त होता है प्रकाशचन्द्र की गिरफ्तारी से। प्रीति-भोज मे ही नाटक के सभी प्रधान पात्रो का परिचय मिल जाता है। नाटक के कुछ प्रधान पात्रो के चरित्र का दिग्दर्शन और उनके द्वारा उनके

समुदायो का ठीक परिचय उन्ही के कथोपकथन के कुछ अंशों से हो जायगा—

राजा अजयसिंह अपनी रानी कल्याणी से एक स्थल पर कहते है—

"अजयसिंह—मेरा शोक, ऐसा शोक है जिसे वही मनुष्य जान सकता है जो शनैः शनैः अपनी संपत्ति खोता है, उसे बचाने का अच्छे और बुरे सभी मार्गों से प्रयत्न करता है, पर इतने पर भी उन प्रयत्नो मे असफल होता है। तुम जानती हो, गत अनेक वर्षों में मैंने पद-पद पर अपने दुर्भाग्य से युद्ध किया है, परन्तु विजय सदा उसी की हुई है। वह शोक, जो इस प्रकार के पराजयो से धीरे-धीरे बढ़ता है, एकाएक होनेवाले शोक से कही अधिक कष्टदायक है। एकाएक होनेवाली बर्बादी और धीरे-धीरे होनेवाली बर्बादी मे कदाचित उतना ही अन्तर है जितना फेफड़ो की ही दो बीमारियो, निमोनियाँ और थाइसिस मे। एकाएक होनेवाली बर्बादी के कारण कष्टमय बड़ी बात कदाचित् सहनीय है, परन्तु धीरे-धीरे होनेवाली बर्बादी के कारण छोटी-छोटी कष्टमय बातें नही। किसी उच्च स्थान से शनैः शनैः मेरा पतन हो रहा है, इस विचार से अधिक कष्ट देनेवाला कदाचित और कोई विचार नहीं है।

"कल्याणी—और महाराज, यदि हम लोग इस सब बचे हुए ऐश्वर्य को छोड़कर वानप्रस्थ ले लें तो?

"अजयसिंह—(हाथ मलते हुए) कल्याणी, कैसी बात

कहती हो। मैं बिना ऐश्वर्य के जीवित रहने की कल्पना ही नही कर सकता।

"कल्याणी—परन्तु इस ऐश्वर्य से आपको किस सुख की प्राप्ति हो रही है ?

"अजयसिंह—कल्याणी तुम समझती हो, मैने उस दिन भी तुमसे कहा था, आज भी कहता हूँ।

"कल्याणी—कैसे, महाराज ?

"अजयसिंह—मै तुम्हे समझा नही सकता, स्वयं समझ सकता हूँ। मेरे भीतर न जाने कौनसी वस्तु, कौन सी शक्ति, इस सारे ऐश्वर्य को स्थिर रख सकने के लिए मेरे शरीर, मेरे हाथो, मेरे सारे अवयवो से सब प्रकार के कार्य, कल के सदृश करा रही है।"

दामोदरदास और धनपाल के कथोपकथन के एक अश से दोनो के राजनैतिक सिद्धान्तो का पता लग जाता है।

"दामोदरदास—(मुँह बिचकाकर) ओह ! डोन्ट टाक ऑफ पोलेटिकल लीडर्स, मिस नेस्टफील्ड, उनमे क्या रखा है। गांधी का नॉन-को-ऑपरेशन और सिविल-डिस ओबिडियन्स से कभी कुछ होने वाला है ? (खाली कर गिलास टेबिल पर रख देता है)

"धनपाल—(सिर हिलाते और पीते हुए) देअर आई डोन्ट एग्री, मिस्टर गुप्ता। जब इस देश मे कुछ होगा, तब (ग्लास टेबिल पर रखते हुए) हमारी एवोल्यूशन और कॉंस्टीट्यूशनल थियोरी से ही।

"दामोदरदास—उसी थियोरी से न, जिसके पास प्रेयर, पिटीशन, और प्रोटेस्ट केवल ये तीन शस्त्र है? राम-राम कीजिये। अजी जनाब, यदि एक ओर गांधी का डाइरेक्ट एक्शन फेल हुआ है, तो दूसरी ओर आपका कॉस्टीट्यूशनलिज्म भी गड़ चुका है। जब भी इस देश मे कुछ होगा तब हम फाइनेन्सर्स से। अंगरेज लोगो से आप आर्थिक कुजी अपने हाथ मे ले लीजिये, कि आप से-आप इस देश से ये चले जायेंगे। विलायती कम्पनियो के हाथ से व्यापार छीन लीजिये, बस समाप्त, स्वराज्य मिल गया।"

दामोदरदास के सिद्धान्तो का और भी विकास तथा व्यवहार का ज्ञान उसके और उसकी पत्नी के सम्भाषण से होता है—

"दामोदरदास—देखो, संसार के इतिहास मे आज तक धनी-निर्धन, पठित-अपठित सदा रहे है। धनी-वर्ग ने निर्धनो पर राज्य किया है और पठित समाज ने अपठितो पर। समानता का सिद्धान्त ही ठीक नहीं है। . . .. .

"रुक्मिणी—परन्तु, तुम भी तो मनुष्यो की समता के लिए कौसिल मे भाषण दिया करते हो।

"दामोदरदास—यह दूसरी बात है, डियर, तुम समझती हो कि मै जो कुछ भाषणो मे कहता हूँ उस पर विश्वास करता हूँ? जनता को प्रसन्न करने के लिए गरीबो के हित के लम्बे लम्बे भाषण देना आवश्यक हो जाता है, नही तो दूसरे चुनाव मे सफल होना मुश्किल हो जावे। .. .. जनता के नाम पर

कुछ व्यक्तियों का लाभ, यह सदा से होता आया है और भविष्य मे भी सदा यही होता रहेगा। जो लोग इसका सच्चा रहस्य नही समझते और 'जनता-जनता' सच्चे हृदय से चिल्लाते हैं, वे मूर्ख है। .... विश्वनाथ और शहीदबख्श उस प्रकाश के सदृश मूर्ख थोड़े ही है; दोनो बड़े घुटे हुए हैं। हिन्दू-हित और मुस्लिम-हित की डीगें अवश्य मारते हैं, पर म्युनिस्पैलटी मे कैसे मिल-जुलकर काम करते हैं।

"रुक्मिणी—म्युनिस्पैलटी मे इनका कुछ स्वार्थ होगा?

"दामोदरदास—खाने को मिलता है। और यदि आपस में लड़ें तो यह न मिले। मिलकर ही खाना हो सकता है। ... फिर अधिकतर मेम्बर और वैतनिक कर्मचारी मिले रहते हैं और इस प्रकार दोनो को खाने को मिल जाता है। साधारण साधारण लोग म्युनिस्पैलटी के चुनाव मे जो इतना खर्च कर देते हैं, वे खर्च नहीं करते, पूँजी लगाते हैं। ....

"रुक्मिणी—और कौंसिल के चुनाव मे जो इतना खर्च होता है सो?

"दामोदरदास—वह और बड़े स्वार्थ के लिए। कोई मिनिस्टर होना चाहते है, किसी को सरकारी बड़े-बड़े ठेके और काम मिल जाते हैं और इन ठेको मे मिनिस्टर भी सम्मिलित रहते हैं। .... बात यह है कि अधिक के आधार पर थोड़ों की विशिष्टता यही निसर्ग सदा करती रही है और करती रहेगी। जड़ और चेतन दोनो प्रकार की सृष्टि मे हमें यही बात

दिखायी देती है। घास फूस की अधिकता और पुष्प-फलो की कमी, अन्य जीव जन्तुओ की अधिकता और मनुष्य वर्ग की कमी इसी नियम का परिणाम है। प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट उत्पत्ति मनुष्य है और मनुष्यो मे सर्वोत्कृष्ट मनुष्य धनवान, क्योकि धन ही मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ वना सकता है। धन थोडे ही व्यक्तियो के पास अधिक परिणाम मे रह सकता है, अतः जिस प्रकार अन्य समस्त सृष्टि थोड़े से मनुष्य-समुदाय के उपयोग के लिए है, उसी प्रकार अधिकांश मनुष्य थोड़े-से मनुष्यो के उपयोग के लिए है, और इस प्रकार थोड़े मनुष्यो के सुख के लिये अधिक का दु.खी रहना, प्रकृति का स्वाभाविक नियम सिद्ध हो जाता है। .. .. यदि बुद्धिमानों के एक रुपये मे चार आने मूर्खो को मिल जायॅ, तो क्या कम है? हम सुशिक्षित लोग मूर्खों पर इससे अधिक और क्या दया दिखा सकते है?

"रुक्मिणी—हॉ, दया का गुण ही है कि देनेवाले और पानेवाले दोनो को ही इससे लाभ होता है। फिर हम दान भी भी तो देते है।

"दामोदरदास—ठीक कहा, पर, हाँ, दान के सम्वन्ध मे भी एक वात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

"रुक्मिणी—वह क्या?

"दामोदरदास—दान ऐसे ही कार्यो मे दिया जावे जिससे कीर्ति के कारण सारे देश-विदेश के समाचार-पत्र भर जावें।

"रुक्मिणी—हाँ, कीर्ति के लिए तो दान दिया ही जाता है।

"दामोदरदास—नहीं, उससे एकलाभ और है। देश के सभी लीडर्स से जान-पहचान बढ़ती है, अनेक राजनैतिक परिवर्तन पहले मालूम हो जाते है और अधिक आमदनी का अवसर मिलता है।

"रुक्मिणी—अधिक दान देने के लिए भी तो इसकी आवश्यकता है। क्योंकि दस रुपयो का लाभ न किया जाय तो एक रुपया दान कैसे किया जा सकता है ?

"दामोदरदास—वाह ! वाह ! क्या समझ की बात कही है।"

अब डाक्टर नेस्टफील्ड और वर्तमान कानूनी पेशे की हालत नेस्टफील्ड और उसकी भतीजी थेरिजा के कथोपकथन मे देखिए—

"नैस्टफील्ड—तुम जानती ही हो कि आजकल की एडीटोरियल-पेन काली स्याही से न लिखकर चाँदी की सफेदी से लिखती है; जहाँ रुपया दिया कि कुछ भी लिखवा लो या कुछ लिखा जाता हो तो बन्द करा लो। .. थेरिजा, आज कल भी लीगल प्रोफेसन मे इसी तरह की चीजों की आमदनी रह गई है। लिटीगेशन घट गया है, कॉपटीशन दिन दूना बढ़ता जाता है। कमीशन पर कमीशन दो, तब कहीं पैसे मिलते हैं, या तब मिलते है जब कि यह जाहिर कराया जाय कि मेरी फलां मजिस्ट्रेट या जजसे दोस्ती है। . ... आमदनी तो तभी

होती है, जब या तो कोई मोटी मुर्गी फसे, या दोनो पार्टियो से मिलकर खाया जाय, या कोई इसी तरह की दूसरी साजिश की जाय। .. .. .. गिरते हुए खानदानो से उनके कई डरो के सबब आमदनी होती है और बढते हुए खानदानो से उनके नये नये कामो के सबब बार-रूम आजकल का सिविलाइज्ड मदकखाना है . मदकखानो मे सबसे बड़ा मदकखाना। वहाँ का धधा ही कुर्सी पर बैठे-बैठे या तो सिगरेट और सिगार पीते हुए, या ताश खेलते हुए, दुनिया भर का क्रिटीसिज्म और हरएक की बुराई करना है . ... ..

"थेरिजा—हाँ, सिर्फ आरगूमेन्ट ही नही, लेकिन इन्फ्लूएस भी आजकल के इन्साफ के पलडे मे वजन डाले बिना नही रहता।"

रुक्मिणी और मनोरमा के कथोपकथन से उनके चरित्रो और उनके समुदायो के विचारो का अवलोकन होता है।

"मनोरमा—इस देश मे विलायत से अधिक समस्यायें हल करने को है, इसे मै मानती हूँ, परन्तु उस देश मे नही के बराबर समस्यायें है, इसे मै नही मानती। अनेक जटिल समस्याओ के कारण वहाँ का सारा जीवन ही उथल-पुथल हो रहा है।

"रुक्मिणी—दो-चार समस्याये गिनाओ तो।

"मनोरमा—एक बात के अन्तर्गत ही वहाँ की सारी जटिल समस्यायें आ जाती है।

"रुक्मिणी—वह कौन सी बात है?

"मनोरमा—आधिभौतिकवाद को सर्वस्व मान लेना, कालमार्क्स का साम्यवाद, मुसोलिनी का फासिस्टवाद, और हिटलर का नाजीवाद सब आधिभौतिकवाद की नींव पर स्थित हैं। मनुष्यत्व वहाँ रह ही नहीं गया, हर बात की तौल सिक्कों के अनुमान पर होती है। जिस पुरुष और स्त्री-समाज के स्वातन्त्र्य की तुम इतनी प्रशंसा कर रही हो, उस स्वातंत्र्य ने ऐसा भयानक रूप धारण किया है कि सच्चे गार्हस्थ्य सुख का भी वहाँ पता नहीं है।.........

"रुक्मिणी—तो तुम समझती हो कि पश्चिम की सारी बातें बुरी हैं?

"मनोरमा—कौन कहता है? अनेक बातें बहुत अच्छी हैं और अनुकरण करने योग्य हैं। किसी भी समाज की हर बात बुरी नहीं होती।

"रुक्मिणी—फिर कौन अनुकरण करने योग्य है और कौन नहीं, इसका निर्णय क्यों कर किया जाय?

"मनोरमा—(मुस्कराकर) यही निर्णय करना तो सबसे कठिन बात है। एक दृष्टान्त देती हूँ।

"रुक्मिणी—कैसा?

"मनोरमा—आजकल के पढ़े-लिखे पश्चिमी विचारों के भारतीय समझते हैं कि जनता की आवश्यकताएं बढ़ाना सभ्यता की नींव और सभ्यता की ओर बढ़ने की पहली सीढ़ी है।

"रुक्मिणी—अवश्य।

"मनोरमा—मैं समझती हूँ नींव ही ठीक नही है, फिर उस पर बना हुआ भवन कैसे ठीक हो सकता है। मेरे मतानुसार तो इस प्रयत्न से यहाँ के समाज मे घोर सकट फैलेगा।

"रुक्मिणी—(घृणा से हँस कर) तुम समझती हो कि यहाँ के लोगो को सदा पशुओ के समान रहना चाहिए ?

"मनोरमा—किसे पशुओ के समान रहना कहना चाहिए और किसे देवताओ के समान, यही तो प्रश्न है। आधिभौतिक सुखो की निरन्तर बढ़ती हुई अभिलाषाएं और आध्यात्मिक सुखो का निरतर ह्रास, क्या यही देवताओ के सदृश रहना है ?

... ..मेरा कहना तो केवल यह है कि पश्चिम का अन्ध अनुकरण इन समस्याओ को हल नही करेगा। किसी रोग की औषधि उससे भी भयंकर दूसरे रोग का निमन्त्रण नही है।"

एक स्थल पर मनोरमा अपनी सखी सुशीला से कहती है—

"मनोरमा—बहन, वे जेल जायगे। (लम्बी सांस लेकर) सर्व प्रथम तो यही मेरी समझ मे नही आता कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के जेल भेजने का क्या अधिकार है। फिर यदि समाज की यह एक अनिवार्य बुराई मान ली जाय और चोरो, डाकुओ, व्यभिचारियो आदि के सुधार एव समाज की रक्षा एसे व्यक्तियो को जेल भेजे बिना न हो सकती हो, तो भी प्रकाशचन्द्र जी के सदृश व्यक्तियो के लिये भी जेल! और इस प्रकार के मनुष्यो को जेल भिजवाएं, मेरे भाई साहब और राजा साहब के सदृश व्यक्ति! मुझे तो आश्चर्य होता है, बहन,

कि मेरे भाई और राजा साहब आदि के सदृश डाकुओ से भी वड़े डाकू, चोरो से भी बड़े चोर और व्यभिचारियो से भी बड़े व्यभिचारी, समाज में आनन्द से रहते हैं, प्रतिष्ठा के साथ रहते है और प्रकाशचन्द्र के सदृश व्यक्ति जेल भेजे जाते है।

"सुशीला—ठीक कहती हो, बहन, पर न जाने कैसे ससार मे सदा यही होता आ रहा है।

"मनोरमा—तभी तो समाज दुखी है और आश्चर्य की बात यह है कि मेरे भाई साहब-सदृश व्यक्ति भी दानी, त्यागी और दानी, त्यागी ही नही दूसरो के दुःख से दुःखी रहने की डीग मारते है। दुःखी रहने का दिखावा भी कदाचित् दूसरो पर रोब रखने मे सहायक होता है।"

एक अन्य स्थल पर मनोरमा सुशीला से कहती है—

"मनोरमा—मुझे देखना है कि संसार अपने गुलामो से ही अपनी सेवा कराता है, अथवा उससे भी, जो अपने सिद्धान्तो के अनुकूल चलकर संसार की गुलामी तो नहीं करना चाहता, पर संसार की यथार्थ सेवा अवश्य करना चाहता है।"

प्रकाशचन्द्र के सार्वजनिक भाषण और उसके तथा उसकी माँ के सभाषण तो इस नाटक के प्राण हैं। इस प्रकार के सभी स्थल पठनीय और मननीय है, इस प्रकार के सभी स्थलो के भी कुछ अश उद्धृत किये जाते है। प्रकाशचन्द्र अजयसिंह के प्रीति-भोज मे ही एक टेबिल पर से मिठाई इत्यादि को हाथ से हटा एक भाषण दे डालता है। वह कहता है—

"प्रकाशचन्द्र—(बायीं ओर के पुरुषों को देख) परन्तु, प्यारे भाइयो ! अब वह समय चला गया जब ये धनी, ये समाज के भूषण, ये समाज के स्तम्भ हम लोगो को इस प्रकार रख सके। मुट्ठी भर लोगो की धन की थैली, चाँदी सोने के निर्जीव टुकडे एवं इने-गिने व्यक्तियो की बुद्धि, तथा विद्या का थोथा घमड, देश के करोड़ो निर्धनो और अपठितो की मनुष्यता को कुचल रखने मे असमर्थ है। . फिर, महाशयो ! इस धन को उत्पन्न करने वाले कौन हैं ? किसान। परमेश्वर-द्वारा दिये गये निधन और धनवान के समान, शरीर के रक्त को किसान पसीने मे बहाता है, उसके भूखे और नगे रहते हुए उनका उत्पन्न किया हुआ सारा धन (अजयसिंह तथा भगवानदास की ओर संकेत कर) इन धनवानो की तिजारियो मे आता है इन प्रीति-भोजो मे बहता है तथा बाहर खडी हुई मोटरो मे उड़ जाता है। . .. विदेशी सरकार जिसकी सत्ता इन्हीं धनवानो पर निर्भर है, इन्हे सहायता देती है और इस सहायता के बदले मे लोग इस सरकार को सुरक्षित रखने के लिए उचित ही नही, सर्वथा अन्याय पूर्ण मार्गों से उसकी सहायता करते है। इस प्रकार वस्तुएँ एक विचित्र चक्र मे घूम रही हैं, परन्तु प्यारे भाइयो ! इस चक्र-व्यूह का विध्वश हमारे लिए आवश्यक हो गया है; इसके नाश मे ही हमारा उत्थान और इसकी स्थिति में ही हमारा पतन है।"

एक अन्य सार्वजनिक भाषण मे प्रकाशचन्द्र कहता है—

"प्रकाशचन्द्र—...... ..निर्धन लोग कदाचित् सामाजिक संगठन के आवश्यक परिणाम हो और निर्धनता के कारण उन्हे सुख न हो, पर, धनी क्यों सुखी नहीं है ? अपठित दुखी हैं, अविद्या के कारण उनका दुखी रहना भी कदाचित् स्वाभाविक हो, परन्तु पठित, बुद्धिमान, और विद्वान क्यो दुखी हैं ? जिन पर अधिकारो का प्रयोग होता है, वे कदाचित अधिकारो के प्रयोग से पीड़ित होने के कारण सुखी नहीं हैं, और उनका दुःखी रहना भी कदाचित् अनिवार्य समझा जावे, परन्तु जिनके हाथो मे, अधिकारो के प्रयोग की सत्ता और शक्ति है; वे क्यों सुखी नही हैं ? .... अनेक भोले-भाले मनुष्य इन धनियो द्वारा लूटे गये है। वे मनुष्य इसलिए दुःखी है कि उन्हे लूटा गया है, परन्तु ये धनी भी तो सुखी रहते ? आश्चर्य तो यह है कि ये भी दुःखी हैं। किसलिए दुखी है, जानते हैं ?

"कुछ व्यक्ति—आप बतलाइये, आप बतलाइये।

"प्रकाशचन्द्र—इसीलिए दुःखी है कि इस लूट को चलाने के लिए उन्हे अपनी सत्ता स्थापित रखने को नित्य नये षड्यंत्र रचने पड़ते हैं। उनके हृदय इन षड्यंत्रो से व्याप्त रहते हैं, सारा जन्म, और सारा जन्म ही क्या, उनकी पीढ़ियों की पीढ़ियाँ यही करते करते बीतती हैं, अतः उन्हे भी सत्य-सुख का अनुभव नहीं हो पाता। निर्धन शरीर के लिए आवश्यक वस्तुओ के लुट जाने से दुखी हैं, तो लुटेरे मानसिक शांति के जाने से क्लेशित हैं।... ... ... जिन सिद्धान्तों के अनुसा

एक ही स्थान पर रहने वाले लोग, छोटी-छोटी सी बात पर, एक दूसरे से सदा लडने को तैयार रहे, एक दूसरे के सिर फोड़ें, वे सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हो सकते हैं? हिन्दू जानते है कि इस देश मे रहनेवाले सब मुसलमान हिन्दू नही हो सकते। मुसलमान जानते हैं कि इस देश मे रहनेवाले सारे हिन्दू इस्लाम-धर्म ग्रहण नहीं कर सकते। दोनो जानते हैं कि दोनो को एक दूसरे के पड़ोसी बनकर ही रहना है। पर, इतने पर भी लड़ते है, और लडते हैं धर्म के नाम पर, उस धर्म के नाम पर जिसका कार्य शान्ति, सुख और भ्रातृ-भाव की स्थापना है। ... . इन्हे लड़ाते है विदेशी स्वार्थी और इन दोनो समाजो के स्वयभू नेता। सज्जनो! इन नेताओ का नेतृत्व तभी तक है जब तक इन समाजो मे झगड़ा है। मुझे आपके नगर के हिन्दू-मुस्लिम नेता पडित विश्वनाथ और मौलाना शहीदबख्श के मुखो पर, उन्हे उस नेतापन के सभालने की कितनी चिन्ता रहती है, यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। .. महाशयो! हिन्दू-मुस्लिम जनता तो लडती है, परन्तु ये नेता आपस मे क्यो नही लडते? इनमे से किसी ने आज तक एक-दूसरे का सिर फोड़ा? . . .. ऐसे हैं जैसे सड़ी हुई लकड़ी होती है। जिस प्रकार उस लकडी पर कोई खुदाव का काम नही किया जा सकता, उसी प्रकार ये नही सुधारे जा सकते। सिद्धान्तो के लिए ससार नही है, ससार के लिए सिद्धान्त हैं। यदि वर्तमान स्वीकृत वैज्ञानिक कहे जानेवाले इन सिद्धान्तो से

संसार मे सत्य-सुख की स्थापना सम्भव नहीं है, तो इन सिद्धान्तों का मूलोच्छेदन कर डालना ही हमारा कर्तव्य है। और यह कार्य किसी पुराने गृह के निर्बल विभागो को गिराने के सदृश है। जिस प्रकार उसका एक भाग गिराते समय यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि उससे लगा दृढ़ दिखनेवाला विभाग उस निर्बल विभाग के गिराने के पश्चात् स्थिर रह सकेगा, या नहीं उसी प्रकार इन वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों मे एक के उखाड़ने पर दूसरे के सम्बन्ध मे यह नहीं कहा जा सकता कि उसका क्या होगी ?

प्रकाशचन्द्र बाह्य प्रशसा का इच्छुक नहीं है, यह उसके निम्नलिखित कथन से जान पड़ता है—

"प्रकाशचन्द्र—पर, माँ, कर्तव्य का पथ तो, तू ही कहती थी; कि, फूलो का न होकर काँटो का होता है। संसार मे सभी के लिए यह पथ ऐसा ही रहा है। यह पथ तो दान का ही पथ है, ग्रहण का नहीं।

"तारा—हाँ, मै ही कहती थी; पर, तू उसी पथ का पथिक होगा, यह मै कहाँ जानती थी ?

"प्रकाशचन्द्र—ऐसे काँटे वाले पथ का पथिक होने पर भी मुझे एक विचित्र प्रकार का सुख हुआ है, माँ, और उसका कारण है ?

"तारा—क्या ?

"प्रकाशचन्द्र—मेरा जीवन निरुद्देश नही रह गया। उद्देश्य-मय जीवन मे एक विचित्र प्रकार का सुख होता है, इसका अब मै अनुभव करने लगा हूँ। फिर मै यह भी जानने लगा हूँ कि कुछ लोग ससार को प्रसन्न करने के लिए कर्तव्य करते है।

"तारा—और तू ?

"प्रकाशचन्द्र—मै अपने को प्रसन्न करने के लिए करता हूँ। मै नही जानता कि, जिसे मै अपना कर्तव्य कहता हूँ, उससे ससार प्रसन्न होता है या नहीं, मेरे हृदय को उससे अवश्य प्रसन्नता होती है और फिर प्यारी माँ, .. । (रुक जाता है और तारा की ओर एकटक देखने लगता है।)

"तारा—फिर क्या ?

"प्रकाशचन्द्र—फिर ? फिर, माँ, जब इस कर्तव्य को मै अपने हृदय मे प्रतिष्ठित तेरी भव्य मूर्ति को अर्पित करता हूँ तब तो मेरे आनन्द की सीमा नही रह जाती।

"तारा—बेटा, प्यारे बेटा।

"प्रकाशचन्द्र—(माँ की ओर देखते हुए कुछ ठहरकर) क्यो, माँ, तुझे मेरे इस आदर, इस जय-जयकार, इन जुलूसो से बड़ा हर्ष होता है ?

"तारा—अवश्य होता है, बेटा, तुझे नही होता ?

"प्रकाशचन्द्र—(लम्बी साँस लेकर) यदि इन सब मे सत्यता होती, उच्च हृदय के सच्चे भावो का समावेश होता; तो अवश्य होता।

"तारा—(आश्चर्य से) ये सब सच्चे नहीं हैं ?

"प्रकाशचन्द्र—जितने होते हुए तू देखती है, उतने सच्चे नही हैं।

"तारा—यह कैसे ?

"प्रकाशचन्द्र—कुछ लोग तो, इसमे सन्देह नहीं कि, मेरा सच्चे हृदय से आदर, हृदय के सच्चे आवेग से जय-जयकार करते है, परन्तु उन्ही आदर करनेवालो, उन्ही जय-जयकार बोलनेवालो मे अनेक ऐसे कलुषित हृदय के लोग भी हैं, जो मन मे मुझसे घृणा करते है, मन मे मुझसे ईर्षा रखते हैं, मन में बढ़ते हुए प्रभाव को देख कर जलते हैं और मेरा विनाश तक कर डालना चाहते है, परन्तु ऊपर से विवश होकर उन्हे मेरा आदर करना पड़ता है, मेरी पराजय चाहने पर भी, उच्च स्वर से मेरा जय-घोष बोलना पड़ता है।

"तारा—अच्छा !

"प्रकाशचन्द्र—इनसे तेरा काम न पड़ने के कारण तुझे इनका अनुभव नहीं हो सकता, माँ, पर मै ऐसे लोगो को मुखों से पहचान सकता हूँ। फिर, कई ऐसे हैं जो मेरे कार्यों को लेशमात्र नहीं समझते, परन्तु सबके साथ मिल मेरे आदर और जय-घोष मे सम्मिलित हो जाते है।

"तारा—और सच्चे कितने होंगे, बेटा ?

"प्रकाशचन्द्र—बहुत, कम, परन्तु, माँ, इस आदर और जय-घोष से चाहे हृदय मे क्षणिक उत्साह भर जाय, चाहे हृदय

को क्षणिक आनन्द मिल जाय, पर यथार्थ मे ये सच्चे और स्थायी आनन्द देने की वस्तु ही नही है। अब मुझे अनुभव होने लगा है, माँ, कि सच्चा आनन्द बाहर के आदर और जय-घोष से प्राप्त नही होता, उसकी उत्पत्ति तो भीतर से होती है। जब मै अपने किसी भी कर्तव्य को, सचाई से, निस्वार्थ भाव से, पालन करता हूँ, और उस पालन को, अन्तःकरण के भीतर प्रतिष्ठित तेरी उदासीन तथा सकरुण प्रतिमा के चरणो मे'' ' । (चुप होकर तारा की ओर एकटक देखने लगता है।)

"तारा—हाँ, चरणो मे क्या ? चुप क्यो हो गया ?

"प्रकाशचन्द्र—चरणो मे भेंट करता हूँ, माँ, प्यारी माँ, उस समय जिस सच्चे आनन्द की मुझे प्राप्ति होती है, वह वर्णनातीत है।"

अपनी मां से प्रकाशचन्द्र क्या चाहता है यह उसके और उसकी माँ के निम्नलिखित सवाद से मालूम होता है।

"प्रकाशचन्द्र—आकाश मे स्थित उषा की द्युति, दिन के प्रकाश, सन्ध्या की प्रभा, रात्रि के अंधकार, सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, दामिनी इन्द्र-धनुष मे, पृथ्वी पर स्थित पर्वतो, नदियो, वनो, उपवनो, वृक्षो, पल्लवो, पुष्पो, फलो, गृहो, मार्गो मे; नभचरो, जलचरो, थलचरो मे, अपने स्वयं के गृह और उसकी वस्तुओ मे, तू अपने प्रकाश, प्यारे प्रकाश को देखना। माँ, प्यारी माँ, यदि तू प्रयत्न करेगी तो तुझे तेरा प्रकाश सर्वत्र दृष्टिगोचर होगा, अवश्य होगा।"

उसकी मां की मानसिक स्थिति का पता उसके निम्नलिखित कथन से लगता है—

"तारा—बेटा, जब तू मेरे भीतर था, तब तुझे भीतर देखती थी; जब तुझे बाहर निकाल दिया तब तुझे बाहर देखती हूँ। तू मुझे अब अपने भीतर नहीं दिखता। तू अपने हृदय का अनुभव कर सकता है, मेरे हृदय का नहीं ... जिस दिन से तूने मेरे उदर मे प्रवेश किया, उसी दिन मेरे बाहरी दुःखो का आरम्भ हुआ। ... मैं भी महलो मे रहती थी, उत्तमोत्तम पदार्थ खाती और उत्तमोत्तम कपड़े पहनती थी; सब छुट गये। परन्तु, उस समय अपने भीतर एक प्रकार के विलक्षण आनन्द का अनुभव हुआ।

"प्रकाशचन्द—वह क्या ?

"तारा—अपने भीतर तुझे देखना। अनेक विचार, अनेक कल्पनाएँ, अनेक सकल्प-विकल्प मेरे हृदय में तरंगो के सदृश उठते और विलीन हो जाते थे। उन तरंगो पर तेरी काल्पनिक मनोहर मूर्ति नृत्य करती थी। (चुप होकर प्रकाशचन्द्र की ओर देखने लगती है)

"प्रकाशचन्द्र—अच्छा, आगे ?

"तारा—कुछ समय पश्चात् जब तू पेट मे फड़कने लगा, तब तेरे साथ मेरे हृदय के भाव भी फड़कने लगे, और जब तूने पेट मे घूमना आरम्भ किया, तब मुझे जान पड़ता था कि सारा विश्व मेरे पेट मे घूम रहा है।

"प्रकाशचन्द्र—ओह !

"तारा—प्रसव की पीड़ाओ मे मुझे स्वर्ग सुख का अनुभव हुआ, और जब तू बाहर आया, तब मेरे भीतर का सारा विश्व, तेरे संग ही, बाहर आगया।

"प्रकाशचन्द्र—तो तब से तू मुझे भीतर न देख सकी ?

"तारा—कैसे देखती ? तुझे बाहर निकाल, बाहर देखने लगी, और उस दर्शन मे अपूर्व सुख पाने। तेरे कभी मुस्कराते और कभी रोते हुए मुख-कमल मे मेरे ससार का सारा सौन्दर्य छिपा था और तेरे हिलते हुए हाथ पैरो मे संसार की सारी हलचलें। जब तू दूध पीता, तब मुझे अनुभव होता कि मै अपने शरीर से सारे ससारका भरण-पोषण कर रही हूँ और तुझे कपड़ा पहनाने मे अनुभव होता कि सारे विश्व को वस्त्र दे रही हूँ। जब तू खाने योग्य हुआ और जब से मैंने तुझे भोजन कराना आरम्भ किया, तब से मुझे अपने मे अन्नपूर्णा देवी का अश प्रतीत होने लगा। जब तू पढ़ने योग्य हुआ और मैने ही तुझे शिक्षा दी, तब से मुझे भासता है कि सरस्वती का भी मुझमे समावेश है। पर, बेटा, इस महान् सुख मे एक दुःख भी था और वह बहुत बड़ा।

"प्रकाशचन्द्र—कैसा दुःख, माँ ?

"तारा—जब कभी तू बीमार होता, तब तेरी छोटी-सी बीमारी मे भी मुझे यही ज्ञात होता कि कही मेरे सोने का संसार

विनिष्ट न हो जाय। उस समय के मेरे दुःख का वर्णन ही नहीं हो सकता।

[तारा चुप हो जाती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है]

"प्रकाशचन्द्र—तो इस प्रकार मेरे जन्म के पश्चात् से ही तू मुझे बाहर ही देखती है ?

"तारा—हाँ, बेटा। फिर मेरा जगत, मेरा संसार, मेरा विश्व, बहुत विस्तीर्ण नहीं है, संकुचित अत्यन्त संकुचित है और वह तू है, बेटा तू। जब तक तू मेरे भीतर था, तब तक मेरा संसार मेरे भीतर था, और जब से तू बाहर आया, तब से मेरा ससार मेरे बाहर आ गया। तुझे बाहर कर, बाइस वर्ष तक अपने संसार को बाहर देख, जैसा तू है, वैसा तुझे बना, अब मैं अपने भीतर तुझे कैसे देखूँ, यह तू ही बता, बेटा ?"

ईर्षा

'ईर्षा' भी गोविन्ददास जी का सामाजिक नाटक है। इस नाटक का समय है सन् १९२१। नाटक की कथा में एक परम सुखी कुटुम्ब के ईर्षा के कारण दारुण दुःखी होना बताया गया है। इस कुटुम्ब का नेता यशपाल साधारण कोटि का एक वकील है। उसकी पत्नी सुखदा सुख की खान है। उसका रूप, उसके गुण और उसका भावुक स्वभाव इस कुटुम्ब को स्वर्गीय सुख का अनुभव करा रहे हैं। यशपाल के एक पुत्र और एक पुत्री के कारण यह सुख कई गुना बढ़ गया है। किसी समय यशपाल निर्धन

था। उसे ब्रह्मदत्त वकील ने छात्र वृति देकर शिक्षित किया था। अनेक बार अपने प्रति उपकार करने वाले के प्रति सब से अधिक ईर्षा की उत्पत्ति होती है। अत. यशपाल के हृदय मे ब्रह्मदत्त के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उसके प्रति ईर्षा का प्रादुर्भाव होता है। ब्रह्मदत्त प्रान्तीय कौंसिल के लिए खड़ा होता है और यशपाल ब्रह्मदत्त को गिराने के लिए असहयोग आन्दोलन मे सम्मलित हो उसके विरोध मे एक मोची को खड़ा करता है। ब्रह्मदत्त हार जाता है, पर इस सारे कार्य मे यशपाल को इस प्रकार के अनेक दुष्कर्म करने पडते है जो गान्धीवाद का सच्चा अनुयायी नही कर सकता। यशपाल का भी यथार्थ रूप जनता जान लेती है और उसका सार्वजनिक जीवन आरम्भ मे ही नष्ट हो जाता है, इतना ही नही, पर उसके सुखी कौटुम्बिक जीवन की भी इस ईर्षा-यज्ञ मे आहुति हो जाती है।

इस नाटक के भी कुछ उद्धरणों को देखिये—

नाटक के आरम्भ मे यशपाल और उसकी पत्नी सुखदा के सभाषण का कुछ अंश दिया जाता है—

"यशपाल—प्रिये, सच तो यह है कि इस बदजात ब्रह्मदत्त की इस बढ़ती हुई अवस्था को देखकर ही मुझे अपना जीवन भार स्वरूप हो गया है। जब तक उसकी सारी प्रतिष्ठा और कीर्ति मिट्टी मे न मिल जायगी तब तक मुझे शान्ति नही मिल सकती।

"सुखदा—(चौककर) प्यारे, आज तुम कैसी बातें कर रहे

हो ? किसी दूसरे की प्रतिष्ठा और कीर्ति को मिट्टी मे मिलाये विना तुम्हे शान्ति न मिलेगी ? किसी के उपकार से शान्ति मिलती है, या अपकार से ?

"यशपाल—दु:खी और सन्तप्तो के उपकार से शान्ति मिलती है और इस प्रकार के दुष्टो के अपकार से।

"सुखदा—मैंने तो अवतक बिना किसी प्रकार के भेदभाव के उपकार ही को शान्ति का मार्ग समझा था। ससार में जिनका अपकार होना चाहिए उनका भगवान कर देते है। मनुष्य को न्यायाधीश वनने का कोई अधिकार नही है।

"यशपाल—(घृणा से मुसकरा कर) प्रिये, तुम घर के वाहर तो निकलीं पर फिर भी वाहर को समझी नही। किसी की दो मीठी वातें सुनते ही उसे संसार मे सब से भला मनुष्य समझने लगती हो, किसी के दो करुण शब्द सुनते ही उसे सब से बड़ा दु:खी मान लेती हो और उसका दु:ख निवारण करने के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हो जाती हो। तुम नहीं जानती कि यह संसार कैसे लुच्चो और धूर्तो से भरा हुआ है। यह रगभूमि नही रणभूमि है। (सुखदा कांप उठती है, उसका कांपना देखकर) मै जानता हूँ, तुम्हे ऐसी बातो के सुनने मात्र से वडा कष्ट होता है, क्योकि तुम्हारा हृदय अत्यन्त कोमल है। इसीलिए मैं तुम्हारे सामने कभी ऐसी बातो की चर्चा ही नही करता, पर आज अवसर आ ही गया, क्योकि आज मैं एक वहुत वड़े कार्य करने की वात सोच रहा हूँ।

"सुखदा—कैसा ?

"यशपाल—यदि मै असहयोगी होकर वकालत छोड़ दूँ तो एक ही छलांग मे ब्रह्मदत्त से कही आगे बढ़ जाऊँगा, क्योकि वह कभी वकालत न छोडेंगे, इसका मुझे विश्वास है।

"सुखदा—(चौंककर) असहयोगी, यदि तुम देश की सच्ची भलाई के लिए होते तो मै समझ सकती थी, परन्तु ब्रह्मदत्त जी को नीचे गिराने के लिये असहयोगी होना तो मेरी समझ में नही आता।

"यशपाल—मैंने कहा न कि तुम संसार को समझती ही नहीं, जिसे ऊचा चढ़ना होता है उसे अन्यो के सिर काट उन मुडो की सीढ़ी बना उस पर से चढ़ना पड़ता है।

"सुखदा—(फिर चौककर) यदि ऊपर चढ़ने के लिये और कोई मार्ग नही है तो नीचे ही रहना अच्छा है।"

अपने पति की इन भावनाओ के कारण सुखदा अपने घर के सुख को अब क्षणिक मानने लगी है। नगर के एक वैद्य गरीब दास को वह अपना गुरु मानती है। उसका और गरीबदास का सवाद सुनिए—

"गरीबदास—बेटी सुखदा, ये तुम्हारे दोनो बच्चे क्या हैं, श्वेत और गुलाबी कमल के सुन्दर मिश्रण हैं। तुम्हारे सग इन इन बच्चो का खेल क्या था, ज्योत्सना के संग कमल कुसुमो का खेल था। सुखदा, तुम्हारे सुखी गृह को स्वर्ग की ही उपमा दी जा सकती है।

"सुखदा—(लम्बी साँस लेकर आँसू भर) परन्तु, गुरुदेव, अब यह सुख बहुत दिनो का नही है।

"गरीबदास—(चौककर सुखदा के मुख की ओर देखते हुए) यह कैसे ? है ! तुम्हारे नेत्रो मे तो आँसू भरे हुए हैं ! क्या बात है, सुखदा ?

"सुखदा—आपने मुझसे एक दिन कहा था न, कि जिस स्थान पर किसी के अपकार का चिन्तन किया जाता है, वहाँ का समस्त सुख नष्ट हो जाता है।

"गरीबदास—हाँ, वहाँ के सुखमे गेहूँ के सदृश घुन लग जाता है। कपूर के समान वहाँ का सुख धीरे धीरे उड जाता है। यह इसलिए मैं नही कहता कि ऐसी परिस्थिति मे कोई दैवी शक्ति से उस सुख का सहार होता है, परन्तु जो अन्य के अपकार का चिन्तन करता है उसकी स्वयं की कृतियो का ही यह परिणाम निकलता है। अतः मे यदि यह कहूँ तो और अधिक उपयुक्त होगा कि सुख रूपी हरे भरे विपिन के लिये यह चिन्तन, दव की चिनगारी के समान है जो भीषण कृतियो रूपी वायु से प्रज्वलित हो उस सुख विपिन को नष्ट कर देती है।"

यशपाल असहयोग की दीक्षा लेता है। इस दीक्षा पर यशपाल और गरीबदास का सवाद होता है—

"गरीबदास—यशपाल जी, आपने अपने हृदय को अच्छी प्रकार टटोल तो लिया है न ? आपके इस देश-सेवा-व्रत मे परमार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई भाव तो विद्यमान नही है ?

"यशपाल—(कुछ रूखे होकर) कैसा अन्य भाव ?

"गरीबदास—अनेक बार मनुष्य अपना व्यक्तिगत महत्व बढ़ाने और दूसरो को नीचा दिखाने अथवा भविष्य मे किसी भारी लाभ करने की इच्छा से क्षणिक त्यागकर देश सेवा का व्रत ग्रहण करते है। ऐसे लोगो की देश-सेवा, देश-सेवा नही, अहमन्यता और व्यापार है। न उन्हे इससे सुख प्राप्त होता है, और न जिनकी वे सेवा करते हैं, उन्ही को कोई लाभ पहुँचता है। .. .. कितनो का उपकार किया जाता है, इस संख्या से परमार्थ नही तौला जा सकता। वह तो परमार्थ करने वाले के भावो के कॉटे पर तौलने की वस्तु है।"

यशपाल के असहयोगी होने पर उसका घर कलह का क्षेत्र हो जाता है। सुखदा उसके सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध मे कहती है—

"सुखदा—यदि अन्तः करण शुद्ध है, तो चरित्र शुद्ध होगा। चरित्र शुद्ध होगा तो स्वय को सुख मिलेगा और प्रशसा छाया-वत पीछे पीछे चलेगी। यदि अन्तःकरण और चरित्र शुद्ध नही है तो कभी सुख न मिलेगा और चाहे क्षणिक प्रशंसा हो जाय पर वह स्थायी नही रहेगी।"

जब यह कलह बहुत बढ़ता है तब सुखदा इस कलह के निवारण का उपाय सोचती है और इस विषय पर उसका और यशपाल का सवाद होता है—

"सुखदा—देखो, प्यारे, जब तक दो व्यक्तियो के भिन्न भिन्न

आदर्श रहते है और एक दूसरे के मत को वे शान्ति पूर्वक सहन नही करते, तब तक इस प्रकार का कलह होना अनिवार्य रहता है। मैंने इस कलह को मिटाने के लिए अपने जीवन का आदर्श ही तुम्हारे जीवन के आदर्श मे समाविष्ट करने का निर्णय कर लिया है। मै तुमसे पृथक अपना व्यक्तित्व ही न रखूंगी। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। जहाँ तक अपनेपन का भी स्वार्थ है वहाँ......... प्रेम नही.....। प्रेम का अन्तिम रूप प्रेमी मे अपनेपन को विलीन कर देना है। वही करूँगी प्राणेश। एक हिन्दू पत्नी को जो करना चाहिए वही करूँगी। मुझे ब्रह्मदत्त से क्या प्रयोजन है? और क्या प्रयोजन है कौसिल से? मुझे तुमसे काम है। यदि तुम रात को दिन कहोगे और दिन को रात तो मै भी वहीं कहूँगी (नीचा मस्तक कर लेती है)

"यशपाल—(प्रसन्न होकर) प्रिये, तुम मुझपर इतना प्रेम करती हो! इतना प्रेम करती हो! (उठकर सुखदा की कुरसी के निकट जा उसकी ठोडी पकड़ मुख ऊपर उठाता है।)

"सुखदा—(आँसू भरकर) इस सम्बन्ध मे मै तुम्हे क्या बताऊँ? परन्तु नही, यदि पूछते ही ही तो सुनो। प्यारे, आरम्भ से ही तुम्हारा मुख देखते देखते मै कभी थकित न हुई, तुमसे बातें करते करते मुझे कभी श्रम का अनुभव नहीं हुआ। जब तुम्हारा मुख मेरे सम्मुख आता है, बहरे मनुष्य के समान मेरी दृष्टि तीव्र हो जाती है और जब तुम्हारा शब्द सुनती हूँ तो

अन्धे मनुष्य समान कान। मेरा इस प्रकार एकटक तुम्हारा मुख देखना अन्यो को निरर्थक जान पडेगा, तुम्हे भी कदाचित निरर्थक जान पडे, परन्तु मै तो समझती हूँ कि प्रेम के स्वर्ग प्रेम मे उन्ही बातो को जिन्हे इस संसार के लोग निरर्थक कहते हैं सबसे अधिक महत्व है। इसी प्रकार मै तुमसे जो बातें करती हूँ वे भी उस खिलौने के सदृश जिसकी पैदी मे एक भारी सी वस्तु लगी रहती है अन्त मे 'प्रेम' शब्द पर लौट आती है, और उनका कोई अन्य साध्य नही रहता, परन्तु मै तो प्रेम को साधन और साध्य दोनो समझती हूँ। जब तुम कही बाहर चले जाते हो तब तुम जानते हो कि मै तुमसे नित्य प्रति पत्र भेजने को कहती हूँ। जब तुम्हारे पत्र मुझे मिलते है तब उनके अक्षर मुझे प्रेम की बूदो के समान दिखायी पडते हैं और उनकी पंक्तियाँ प्रेम समुद्र की ओर बढ़ने वाली सरिताएँ। अतः पूरा का पूरा पत्र देखती हूँ तब मुझे प्रेम का सागर दिखायी देता है। प्राणेश, भगवान का पूजन हिन्दुओ मे सर्वश्रेष्ठ कर्म माना जाता है। भिन्न भिन्न मनुष्य उसे भिन्न भिन्न प्रकार से करते हैं। मैं उसे तुम्हे प्रेम करके करती हूँ। (आँसू गिरने लगते हैं। यशपाल उसका मुख चूम लेता है।) प्यारे, अब तो हम दोनो के बीच कभी कलह न होगी। मै तो उसकी बात सोचकर ही काँपी जाती हूँ।

"यशपाल—(पुनः उसे चूमकर) कभी नहीं, प्राणेश्वरी, कभी नहीं। आज मुझे मालूम हुआ कि तुम केवल प्रेम की

ही पवित्र प्रतिमा नही हो, किन्तु साथ ही त्याग की भी मूर्तिमन्त मूर्ति हो। तुम्हारा हृदय मुझसे कदाचित् अधिक शुद्ध है, अधिक कोमल है। स्त्रियो का हृदय ही कदाचित् ऐसा रह सकता है। जिन पुरुषो को नित्य प्रति जीवन संग्राम के क्षेत्र का सैनिक रहना पड़ता है उनका हृदय इतना शुद्ध और कोमल रहना कदाचित सम्भव ही नही है। फिर प्रेम मे यह भी देखा गया है कि दो प्रेमियो मे जो निर्बल होता है वही अधिक त्याग भी करता है। इसका अभिप्राय यह नही है कि सबल के हृदय मे निर्बल के प्रति कम प्रेम रहता है परन्तु सबल होने के कारण निबल मे वह कदाचित् अधिक ग्रहण करने की शक्ति रखता है।"

सुखदा के इस सदा प्रसन्न रहनेवाले मार्ग के सम्बन्ध मे एक बार उससे और उसकी बुद्धिमती नौकरानी रामदेई से बातचीत होती है।

"सुखदा—मैंने सदा प्रसन्न रहने का एक मार्ग निकाल दिया है।

"रामदेई—हमेशा खुस रहने का रास्ता! यह तो बड़े ताजुब की बात है। मालकिन, हमेशा तो कोई खुस नही रह सकता, पर आप आजकल खुश जरूर रहती हैं। हमेशा खुश रहने का कौनसा रास्ता है, मालकिन?

"सुखदा—दूसरे की प्रसन्नता मे अपनी प्रसन्नता मानना। मै आजकल उनकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मानती हूँ।

जो कुछ वे कहते या करते है उसका आँख बन्द कर समर्थन करती हूँ। इससे मुझे अब दुःख हो ही नही सकता। सदा सुखी रहने का कदाचित इससे अच्छा और कोई मार्ग नही है, कि मनुष्य अपना एक इष्ट बनाकर उसके सुख मे सुखी रहे। इसीलिए तो, रामदेई, भगवान के भक्तो को कभी दुख नही होता। वे सदा ही सुखी और प्रसन्न रहते है। हिन्दू पत्नी के लिए पति ही भगवान का स्वरूप है। . . ...

"रामदेई—... दूसरे के सुख मे ही सुख मानना, अपनी कभी कोई परवाह न करना, यह छोटी बात नही है। भगवान के भक्तो की दूसरी बात है।

"सुखदा—भगवान् के भक्तो की दूसरी बात कैसे है?

"रामदेई—इसलिए कि भगवान को किस बात मे सुख है, यह भक्तो को थोड़े ही मालूम रहता है। ज्यादा कर के तो भक्तो के मन मे जिस बात से सुख होता है उसी से भगवान भी सुखी होते होगे, यह वे मान लेते है, पर मालकिन, किसी दूसरे आदमी के सुख मे अपना सुख मानना यह तो बड़ी मुश्किल बात है।

"सुखदा—क्यो?

"रामदेई—क्योकि आदमी को आज एक बात मे सुख होता है, कल दूसरी मे। उसके सुख के साथ अपने मन को भी रोज बदलना पडता है. यह तो बडी ही मुश्किल बात है। चाहे पति हो, चाहे कोई भी हो, मालकिन, किसी के सुख मे अपना सुख मानना! ओह! मुश्किल, बड़ी ही मुश्किल बात है।

"सुखदा—पर, रामदेई, भक्त भी के मन को जिससे सुख होता है उसी से भगवान को भी सुख होता होगा यह नही मान सकती। तू ने कहा न कि मनुष्य के हृदय के भाव तो निरन्तर बदलते है। भक्त को यह मानना ही पड़ता है कि भगवान को अच्छी भावनाओ और अच्छी कृतियों से ही सुख होता है, अतः उनका भी भगवान के सुख मे अपना सुख मानना सहज नही है।

"रामदेई—अच्छी बातो से भगवान को सुख होता है, इतना तो भक्त के लिए पक्का रहता है न, मालकिन ?

"सुखदा—(कुछ सोचकर) हाँ, इतना तो पक्का रहता है।

"रामदेई—तो भगवान के भक्त को अपना मन ऐसा बनाना पडता है जिससे उसे अच्छी बातो मे सुख मिले।

"सुखदा—अवश्य।

"रामदेई—और आदमी को तो कभी अच्छी और कभी बुरी दोनो ही तरह की बातो से सुख होता है। इसलिए किसी दूसरे आदमी के सुख मे सुख माननेवाले आदमी को कभी अच्छी बात मे सुख मानना पड़ता है और कभी बुरी बात मे। एक तरह की बात मे सुख मानना उतना मुश्किल नही है जितना बदलती हुई बातो मे। अब आप ही सोचें भगवान के भक्त का काम मुश्किल है या आदमी के भक्त का ?"

भावुक सुखदा की ये भावनाएं सदा नही टिक सकती। उसके पति के अनेक कृत्यो के कारण उसके कोमल हृदय को ठेस पहुँचती थी। जब अन्त मे एक क्रान्तिकारी के गिरफ्तार कराने के पुरस्कार मिलने की अभिलाषा के कारण यशपाल द्वारा ऐसा कार्य होता है कि उस क्रान्तिकारी के साथ ही गरीबदास भी गिरफ्तार हो जाते हैं, तब गरीबदास के मुकदमे के समय सुखदा अपने पति को अपने विलीन नही रख सकती। वह कचहरी मे ही उठ खडी हो जाती है और उसके द्वारा ही उसके पति के बाह्य रूप का भण्डा फोड़ होकर उसका यथार्थ रूप जनता के सामने आ जाता है। कचहरी मे मुकदमे के पहले सुखदा और यशपाल का निम्नलिखित सवाद होता है—

"सुखदा—प्रतिष्ठा! प्रतिष्ठा! ओह, प्राणेश, तुम्हे प्रतिष्ठा का कितना स्वार्थ हो गया है? ईर्षा से इस प्रतिष्ठा की भावना का आरम्भ हुआ और अब भले बुरे किसी भी प्रकार के उपायो से इसे स्थित रखना तुमने जीवन का ध्येय बना लिया। ...... जब निश्चित नैतिक सिद्धान्तो के पथ से जीवन शकट विचलित होता है तब वह कदाचित् अन्धतम गर्त मे गिरे बिना बीच मे रुकती नहीं।

"यशपाल—क्यो, प्रिये. तुमने प्रतिज्ञा की थी न कि चाहे मैं कुछ ही क्यो न करू, तुम मेरी हर बात का समर्थन करोगी। यदि मैं रात को दिन और दिन को रात कहूँगा तो तुम भी वही

कहोगी। अपना व्यक्तित्व पूर्ण रूप से मुझ मे विलीन कर दोगी।

"सुखदा—(चौक कर) की थी, प्राणेश, की थी। मुझे क्षमा करो। मै इस कचहरी को देखकर और यह सोचकर कि हम लोगो के अपराध के कारण, इस स्थान पर आज निरपराध गरीबदास जी को दंड होगा, एकाएक उत्तेजित हो उठी थी। उस दिन की बातें और भविष्य की कल्पनाओ मे सब कुछ भूल गई थी। सचमुच मै पागल के समान हो गयी थी। मुझे क्षमा करो, प्यारे, क्षमा करो। (कुछ ठहर कर) और देखो यदि मुझे फिर उत्तेजना हो तो मेरी प्रतिज्ञा का स्मरण करा देना।

"यशपाल—तुम तो सदा अपने स्वप्नों मे ही रहना चाहती हो, मानो प्रत्यक्ष ससार से तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

"सुखदा—परन्तु मेरे स्वप्न ही तो मेरा बल है, प्राणेश।

"यशपाल—हो सकता है परन्तु तुम्हारी निर्बलता भी तुम्हारे स्वप्न ही है।"

परन्तु ज्योंही मजिस्ट्रेट गरीबदास पर चार्ज लगाता है त्योंही सुखदा फिर से अपनी प्रतिज्ञा भूल जाती है—

"सुखदा—हृदय के इस तूफान के समय बाहर की शान्ति असम्भव है। ओह! हृदय का तूफान क्या, यह तो अन्तरात्मा का भूकम्प है। भूकम्प! (आगे बढ़कर मजिस्ट्रेट से) आप गरीबदास जी पर चार्ज न लगाइये, मजिस्ट्रेट साहब! उनका नही मेरा अपराध है। मै सारी घटना आपको बताती हूँ।"

गरीबदास यशपाल को उसके भीतरी एव बाहरी रूप के अन्तर के सम्बन्ध मे और जैसा वह नही है वैसा प्रदर्शित करने में, जो भय था उसके विषय में अनेक बार चेतावनी देते है। गरीबदास अन्तिम चेतावनी मे यशपाल से निम्नलिखित वाक्य कहते है—

"गरीबदास—..... आपकी यह देशभक्ति नही ईर्षा-भक्ति है। इससे आप कभी सुख न पा सकेंगे। अपने अत्य-धिक सुखी गृह को भी दुखी कर लेंगे और अन्यों को भी सुख न पहुँचा सकेंगे। आपकी जो आज प्रशसा हो रही है इसे आप स्थायी न समझिये। उसकी प्रशसा स्थायी रहती है, जिसके कार्यो की नीव शुद्ध अन्तःकरण की शुद्ध भावनाएँ हैं। ऐसी भावनाओं वाले प्रशसा के पीछे नही चलते परन्तु प्रशसा उनके पीछे चलती है। वे घूमकर भी उसकी ओर नही देखते पर अपने मार्ग पर चला करते है। आप जिस मार्ग पर चल रहे है वह उत्थान का नही पतन का मार्ग है; और वह, और अधिक इसलिए कि यथार्थ वह जैसा नही है वैसा लोग उसे समझ रहे है। बुरी वस्तु यदि बुरी ही दिखे तो वह उतनी भयानक नही होती जितनी अच्छी दिखने पर होती है। आपके हृदय मे इस समय परमाथ नही, किन्तु अत्यधिक काला स्वार्थ है। इसे न भूलियेगा यशपाल जी, मनुष्य जो सोचता है प्राय. वही हो जाता है। यदि वह किसी की बुराई सोचता है तो स्वय बुरा हो जाता है। मनुष्य को उसके कर्म सूर्य से भी

अधिक प्रकाशवन्त और अमा रात्रि से भी अधिक श्याम बना सकते हैं। जैसा वह नही है यदि वह दूसरों को प्रदर्शित करे तो वह जीवन मिथ्या जीवन है। मिथ्या जीवन कदापि सुखी जीवन नही हो सकता। जिनका ऐसा जीवन है उन्हे भीतर ही भीतर अत्यधिक क्लेश सहन करना पड़ता है। सच्ची भीतरी भावनाओ के विपरीत वाह्य प्रदर्शन न तो सदा दूसरों को भुलावे मे रख सकता है और न स्वयं को ही सुख दे सका है। इस प्रकार सतत मिथ्या जीवन अपने आपको ही ऐसा कष्ट देता है जिसे मूक रहकर ही सहना पड़ता है और अपने निकटतम मित्र से भी नही कहा जा सकता। इतना ही नही कुछ समय पश्चात् यह सारा वाह्य आडम्बर स्वयं को ही भार स्वरूप हो जाता है। भीतर की कालिमा से रंगी हुई कलम बाहर चटकीले रगो का चित्र नही बना सकती। भीतरी पैशाचिक इच्छाएँ देवताओ सा वाह्य सुख नही रहने दे सकती। फूहड़ता से सौन्दर्य की रचना नही की जा सकती। दुष्टता से अच्छाई का निर्माण नही हो सकता। अपनी ही धूर्तता के लगातार पान से अपना ही जी मचलने लगता है, और ऐसे अवसर भी उपस्थित होते हैं जब धूर्त अपनी ही धूर्तता का सर्वसाधारण के सामने वमन करने के लिए आतुर हो उठता है। इसमे सन्देह नही कि धूर्त मे भी एक प्रकार का अहकार होता है; परन्तु धूर्त और सत्यवादी के अहंकार मे उतना ही अन्तर है जितना केंचुए और सर्प के लहराने में। किसी अन्य

के द्वारा अपने दुष्कृत्यो का भण्डा फोड़ कष्टप्रद महान कष्टप्रद है, परन्तु साहस के साथ अपने ही दुष्कृत्यो का यदि स्वयं ही भडाफोड़ कर दिया जाय तो वह महान सुख पहुँचाता है, इतना ही नही किन्तु अनुपम वीरता का कृत्य हो जाता है। यशपाल जी आपका भडाफोड़ हुए बिना न रहेगा। आपका सच्चा-स्वरूप एक न एक दिन प्रकट होगा ही। या तो महात्मा गान्धी के पवित्र योग्य वनिए या उसे कलुषित न कीजिये। क्यो अपने स्वर्गीय गृह जीवन को नरक वना रहे है? क्यो ... ।" और अन्त में यशपाल का भण्डाफोड़ उसकी पत्नी ही द्वारा होता है।

सिद्धान्त स्वातंत्र्य

सिद्धान्त स्वातंत्र्य भी सामाजिक नाटक है। इस नाटक में दो ही अंक हैं। पहले अंक का समय है सन् १९०५ और दूसरे अक का सन् १९३०। नाटक का नायक है त्रिभुवनदास। सन् १९०५ मे त्रिभुवनदास वी० ए० पास करने के वाद वोर्डिंग हाउस से अपने घर लौटता है। वह बंग-विच्छेद के वायकाट आन्दोलन मे छिपकर भाग लेता है। उसका पिता चतुर्भुजदास यद्यपि वहुंत धनवान है, परन्तु साथ ही बड़ा कजूस। चतुर्भुजदास राजभक्त है, और तहसीलदार सदृश साधारण राजकर्मचारियो को भी ज़मीन तक झुक झुक कर सलाम करता है। वाप की कंजूसी और वाप के राजभक्त विचारो के कारण। त्रिभुवनदास और चतुर्भुजदास मे वादविवाद होता है जो लड़ाई की सीमा तक पहुँच जाता है। त्रिभुवनदास 'सिद्धान्त स्वातंत्र्य' के आधार/

पर पिता से लड़ता है परन्तु चतुर्भुजदास पुत्र के सिद्धान्तो पर अपने सिद्धान्तो का बलिदान कर देता है।

पच्चीस वर्ष में त्रिभुवनदास के सिद्धान्तो में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। अब वह सर त्रिभुवनदास है और प्रान्त का होम मेम्बर। चतुर्भुजदास को राजा की पदवी मिल गयी है। त्रिभुवनदास को अब एक पुत्र भी हो गया है और उसका नाम है मनोहरदास। मनोहरदास गान्धी जी का अनुयायी है। जो त्रिभुवनदास 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' के सिद्धान्त पर पिता से लड़ा था वही पुत्र से भी लड़ता है और उसे घर से निकाल देता है। मनोहरदास सन् १९३० के सत्याग्रह मे पिकेटिंग करते हुए गोली से घायल होता है। यह गोलीकांड होम मेम्बर की आज्ञा से ही होता है। राजा चतुर्भुजदास ने जिस प्रकार पुत्र के लिए अपने सिद्धान्तों का बलिदान किया था उसी प्रकार पौत्र के लिए भी वह अपने सिद्धान्तो को बलिदान करने के लिए तैयार हो जाता है, वह अपनी राजा की पदवी छोड़कर महात्मा-गान्धी के अनुयायी होने के लिए मनोहरदास को वचन देता है, परन्तु त्रिभुवनदास नहीं। वह तो अन्त तक अपने 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' का ही राग अलापता रहता है।

इस नाटक के भी कुछ उद्धरण देखिये।

आरंभिक वादविवाद के बाद पिता पुत्र के सिद्धान्त सुनिए—

"त्रिभुवनदास—...... आप अपने सिद्धान्त अपने पास

रखिये और मेरा मेरे पास रहने दीजिए। मै सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य का पूजक हूँ।

"चतुर्भुजदास—मेरे तो कोई सिद्धान्त ही नही। मेरे सिद्धान्त तो तुम हो। तुम सुखी रहो, तुम आराम से रहो, तुम पर कभी कोई किसी तरह की भी आफत न आने पावे, यही मेरे सिद्धान्त है।"

इसके पच्चीस वर्ष के पश्चात् सर और लेडी त्रिभुवनदास का सभापरा होता है—

"त्रिभुवनदास—मै यह नही कहता कि सग से मनुष्य कुछ नही सीखता, परन्तु संग गौरा कारण है, मुख्य नही। मनोहर के इस समय के जोश का मुख्य कारण उसकी युवावस्था है, अनुभव-शून्यता है। संग तो मुझे भी ऐसे ही लोगो का रहता है, फिर मेरे हृदय पर अब उनका प्रभाव क्यो नही पड़ता? बात यह है कि कुछ समय से इस देश के वायु-मण्डल मे जोश का रोग आ गया है। युवको पर इसका सबसे अधिक असर होता है और इसमे ऐसी छूत है, जैसी किसी रोग मे नही। युवको को संसार का अनुभव रहता नही, बस उस जोश मे बह जाते हैं। अवस्था के कुछ बढ़ने और ससार के अनुभव के होने पर जब जोश ठण्डा हो जायगा, तब वह चुप-चाप घर लौट आयगा। कुछ दिन दुनिया की ठोकरें खा लेने दो।

"सरस्वती—तो तुम समझते हो, वग-विच्छेद के आन्दोलन

के समय तुम भी केवल जोश के कारण उस आन्दोलन के साथ हो गये थे और तुमने भी भूल की थी ?

"त्रिभुवनदास—इसमे मुझे थोड़ा-सा भी सन्देह नही है; परन्तु मै तो ठीक समय रास्ते पर आ गया। दिन-भर का भूला भटका यदि रात को भी घर पर आ जावे, तो वह भूला भटका नही कहलाता; वरन् उलटा अनुभवी हो जाता है। ......सन् १९२० के असहयोग-आन्दोलन के समय तुम जानती हो, मुझे सार्वजनिक जीवन में पन्द्रह वर्ष हो चुके। उन पन्द्रह वर्षों मे मैंने भारतवर्ष के एक-एक नेता को अच्छी प्रकार देख लिया था। निकट से देखने पर मुझे मालूम हो गया था कि अधिकांश नेताओ की देश-भक्ति किस प्रकार की है।

"सरस्वती—तो तुम्हारा यह कहना है कि सब नेता धूर्त हैं ?

"त्रिभुवनदास—नहीं, मेरा यह कहना नहीं है; पर अधिकाँश धूर्त है, इसमे सन्देह नही। ऊपर से वे देश-भक्ति दिखाते हैं; परन्तु उनके भीतर स्वार्थ कूट-कूटकर भरा है। सरकार का इसलिए विरोध करते है कि सरकार उनसे सौदा करे और ज्योंही सरकार सौदा करती है, त्योंही सौदा पटते ही सरकार की ओर हो जाते है।

"सरस्वती—(मुस्कराकर) तो अन्य लोगों के समान तुमने भी सरकार से सौदा किया ?

"त्रिभुवनदास—मेरे लिए तुम ऐसा नही कह सकती।

"सरस्वती—क्यो, तुम भी तो १९०५ से १९२० तक सरकार

के बड़े भारी विरोधियो मे थे और आज सर की उपाधि से युक्तप्रान्त के होम-मेम्बर हो, एवं गवर्नर होने की भी आशा कर रहे हो। ससुर जी को राजा की पदवी मिल गयी है।

"त्रिभुवनदास—पहले तो मै सरकार के साथ हूँ, यही मै नही मानता; फिर यदि थोड़ी देर को तुम्हारा कहना मान लूँ, तो तुम समझती हो, मै रुपये और उपाधियो के लिए सरकार के साथ हूँ ?

"सरस्वती—रुपये के लिए तुम सरकार के साथ हो, यह दोषारोपण कोई भी तुम पर नही कर सकता; क्योकि भगवान् ने तुम्हे बहुत रुपया दिया है। जो कुछ सरकार से तुम्हे मिलता है, उससे दूना तुम्हारा खर्च है; परन्तु सरकारी उपाधियाँ तुमने ली हैं, इसे तुम अस्वीकृत नही कर सकते।

"त्रिभुवनदास—उपाधियाँ मैने ली है, यह नही, उपधियाँ मुझे मिली है, यह कहो। मैने सरकार से उपाधियाँ लेने का भी कोई प्रयत्न नही किया।

"सरस्वती—परन्तु जब मिल गयी, तब उन्हे स्वीकार कर लिया।

"त्रिभुवनदास—हाँ, क्योकि उनके स्वीकार करने मे मै कोई आपत्ति नहीं देखता था, इसलिए मैने उन्हे स्वीकार किया कि उन्हे मै बड़ी भारी वस्तु समझता हूँ, यह बात नही है, क्योकि इन उपाधियो से भी कही बड़ी वस्तु सार्वजनिक प्रशंसा तक को

मैंने लात मार दी। मुझे बड़ा खेद है प्रिये, कि तुम तक मुझे नहीं समझ रही हो।

"सरस्वती—किस प्रकार ?

"त्रिभुवनदास—देखो मैंने बग-भंग के आन्दोलन मे सच्ची देश-भक्ति से प्रेरित होकर भाग लिया था। जैसा मैंने तुमसे कहा कि पन्द्रह वर्षो तक मैंने भारतीय नेताओ और जनता को निकट से देखा है और दोनो से मुझे अत्यधिक घृणा हो गयी है।

"सरस्वती—परन्तु उनसे घृणा होने के कारण सरकार की ओर होने की क्या आवश्यकता थी ?

"त्रिभुवनदास—सरकार की ओर मै हुआ नहीं, यह तो मैंने पहले ही कहा। हाँ, मैंने अपनी कार्य-पद्धति अवश्य बदली और उसके दो कारण थे।

"सरस्वती—क्या ?

"त्रिभुवनदास—वही तो बता रहा हूँ। एक नेताओ का स्वार्थ और दूसरे इस देश की जनता की कायरता और अकर्मण्यता। सन् १९०५ से १९२० तक के सार्वजनिक जीवन मे मैंने देख लिया कि जिस प्रकार इस देश के नेता निकम्मे हैं, उसी प्रकार इस देश की जनता भी किसी काम की नहीं। जो जनता पन्द्रह वर्षों के लगातार प्रयत्न पर भी ब्रिटिश माल तक का बहिष्कार न कर सकी, वह महात्मा गान्धी के असहयोग—आन्दोलन को सफल कर सकेगी, यह मुझे विश्वास ही न था। फिर असहयोग को तात्त्विक दृष्टि से भी मै हानिकारक समझता

था, इसीलिए कांग्रेस द्वारा उनके कार्य-क्रम के स्वीकृत होते ही मैंने कांग्रेस को छोड़ दिया और बड़ी-बड़ी आशाये छोड़, थोड़ी-बहुत भी जो लाभ कौंसिलो द्वारा पहुँचाया जा सकता है, उसे पहुँचाने के लिए मैंने कौंसिल मे प्रवेश किया। .. ... .

"सरस्वती—असहयोग-आन्दोलन से कोई जागृति और लाभ नही हुआ ?

"त्रिभुवनदास—जागृति और लाभ ! मेरा तो इस सम्बन्ध मे मत ही दूसरा है।

"सरस्वती—कैसा ?

"त्रिभुवनदास—मैंने कहा न कि मै सात्त्विक-दृष्टि से उसे देश के लिए हानिकारक समझता हूँ। तुम जागृति और लाभ की बात करती हो, मेरी दृष्टि से इस आंदोलन से जो जागृति यहाँ हो रही थी, उसे तक बहुत रुकावट हो गयी और बडी भारी हानि पहुँची। . .. . महात्मा गान्धी बहुत बड़े आदमी है, इसमे सन्देह नही, परन्तु या तो महात्मा गान्धी को अभी दो-सौ-वर्ष पश्चात् हमारे ससार मे जन्म लेना था या किसी दूसरे सितारे पर होना था। उनके असहयोग की नीव घृणा न होकर प्रेम है। वे अग्रेजो से प्रेम करने को कहते है और उनके दुष्कर्मो मे प्रेम के साथ असहयोग करने का उपदेश देते है। तुम्हे स्मरण होगा कि पहले वे अपने प्रेम के सिद्धान्तो के कारण विदेशी माल के वहिष्कार तक के विरुद्ध थे।

"सरस्वती—हाँ स्मरण है।

"त्रिभुवनदास—पर फिर अन्य अनेक कारणो से उसे उन्होने स्वीकार कर लिया, अकेले ब्रिटिश माल के बहिष्कार के तो वे आज भी विरुद्ध है।

"सरस्वती—जानती हूँ।

"त्रिभुवनदास—जब सारे ससार मे स्वार्थ का राज्य है और एक दूसरे के गले काटने के लिए हर एक मनुष्य, हर एक जाति और हर एक राष्ट्र तैयार हो रहे है, तब इस प्रकार के प्रेम-पूर्ण कार्य क्रम से हमारा अभीष्ट कभी सिद्ध नही हो सकता। वंग-भग के आन्दोलन के समय अंग्रेज़ी माल के बायकाट के साथ इस राज्य को उलट देने के लिए अनेक गुप्त सगठन हो रहे थे। इस देश का बच्चा-बच्चा अंग्रेज़ो से घृणा करने लगे, इस बात का प्रयत्न हो रहा था। हर स्थान पर घृणा की जागृति हो रही थी। महात्मा गान्धी ने बायकाट के स्थान पर असहयोग को जन्म देकर सारे गुप्त-संगठनो का ध्वस कर दिया। घृणा की उस जागृति को रोक दिया और इस प्रकार देश को बड़ी भारी हानि पहुँचाई। इन आधिभौतिकता के प्रेमी अंग्रेज़ों पर इस प्रकार के प्रेम-पूर्ण असहयोग का कोई प्रभाव नही पड़ सकता। सत्याग्रह की भी यही प्रेम नीव है; फिर उसमे तो स्वय चाहे नष्ट हो जाय, पर अपने बचाव के लिए भी हिंसा निषिद्ध है। इस प्रकार के आन्दोलनो का अंग्रेज़ मज़ाक उड़ाते हैं। उन्हें

तो आयर्लैण्ड के सदृश आन्दोलन चाहिए या अमेरिका के सदृश स्वाधीनता का सशस्त्र सग्राम। . . . . . (कुछ उत्तेजित होकर) जनता क्या कहती है, इसकी मुझे जरा भी चिन्ता नही है। एक अग्रेजी कहावत है—'पब्लिक—पब्लिक, हाऊ मेनी फूल्स मेक पब्लिक' इतना ही नही जनता मे बुद्धि नही है, न उसमें विवेक है और न साहस। उसका मन तो उस सूने गृह के सदृश है, जिसमे किसी के भी शब्द की प्रतिध्वनि हो सकती है। जनता से अधिक घृणास्पद वस्तु और कोई नही। यदि वह नीच नही है, तो कोप मे से 'नीचता' शब्द का बहिष्कार कर देना पड़ेगा। यदि वह कायर नही है, तो भाषा मे से 'कायरता' शब्द को निकाल डालना होगा और यदि वह अकर्मण्य नही है तो फिर 'अकर्मण्यता' शब्द का उपयोग किसके लिए होगा? जिसमे देश की जनता! मूर्ख और मूर्ख ही नहीं पशुओ का समुदाय! जनता यो ही घृणास्पद होती है, फिर इस देश की जनता के लिए तो घृणास्पद शब्द से भी यदि कोई कड़ा शब्द हो, तो उसका उपयोग होना चाहिए। उसकी मूर्खता के कारण ही तो हम देखते हैं कि कुछ भी विशेषता रखने वाला व्यक्ति उसके बीच ईश्वर का अवतार मान लिया जाता है और उस अवतार का वह पूजन अवश्य करती है, चाहे उसके अनुसरण करने की बात वह स्वप्न मे भी न सोचे।

"सरस्वती—किन्तु प्राणेश, यह सोचने से कोई लाभ नही

कि जनता कैसी होनी चाहिए। जैसी वह है, उसी से तो काम पडता है। जब उसके बीच मे रहना है, तब ऐसे कार्य तो न करने होंगे, जिनसे उसे घृणा है।

"त्रिभुवनदास—तब ऐसे करने होंगे, जिनसे करने वाले को घृणा है। देखो प्रिये, यदि जीवन मे मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ करना पड़े, तो उस जीवन तक को रखने की अपेक्षा मै उसे समाप्त कर देना अधिक अच्छा समझता हूँ। चूँकि जनता मे रहने के लिये मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है, इसलिए मै जनता से कोई प्रयोजन नहीं रखना चाहता। मै अपने अन्तःकरण से पूछकर हर एक कार्य करता हूँ और मेरा अन्तःकरण कहता है कि मै हरेक कार्य को पूर्ण विवेक से कर रहा हूँ। तुम जानती हो, मेरे लिए ससार मे सबसे अधिक मूल्यवान कौन सी वस्तु है ?

"सरस्वती—कौन सी ?

"त्रिभुवनदास—स्वातन्त्र्य धन को यदि मूल्यवान समझता हूँ, तो इसीलिए कि वह मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए आज सबसे बड़ा साधन है। मैने अपना काम पूर्ण ईमानदारी के साथ किया है। मिनिस्टरी के काम मे मैने अपने सब मुहकमों को आशातीत रूप से सुधारा है। जब से होम-मेम्बर हुआ हूँ, कमिश्नरो, कलक्टरो आदि को एक-एक करके दुरुस्त किया है। पिता जी छोटे छोटे सरकारी कर्मचारियो को झुक झुककर सलामे किया करते थे। बड़े बड़े अफसर मुझे झुक झुककर

सलामे करते हैं, वे सदा उनकी हाँ-हजूरी मे दत्तचित्त रहते थे, मै उन पर हुक्म चलाता हूँ। . . ..

"सरस्वती—अपने ही सम्बन्ध मे तुम सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य पुजारी हो, दूसरो के सम्बन्ध मे नही। प्राणेश, तुम्हारे घृणा और गुप्त संगठनो के सिद्धान्तो से महात्मा गान्धी का प्रेम पूर्ण असहयोग और सत्याग्रह का सिद्धान्त कही उच्च और व्यवहार्य है।

"त्रिभुवनदास—उच्च चाहे हो; किन्तु व्यवहार्य नही है।

"सरस्वती—इसीलिए तुम उसे अव्यवहार्य मानते हो न कि सन् १६२० का असहयोग-आन्दोलन असफल हो गया!

"त्रिभुवनदास—अवश्य।

"सरस्वती—तो सन् १६०५ मे किये गये घृणा-प्रचार और गुप्त संगठन भी असफल हो गये। सन् १६२० के असहयोग-आन्दोलन के असफल होने का दोष, असहयोग के कार्य-क्रम को न होकर, इस देश की जनता को है, जिसे तुम भी अकर्मण्य कहते हो। यदि सत्याग्रह भी असफल हुआ, तो इसका दोष भी जनता के सिर पर होगा, यह नही, कि ये सिद्धान्त ठीक नही हैं। भारतीयो के सदृश निःशस्त्र जनता यदि किसी मार्ग से स्वतन्त्र हो सकती है, तो असहयोग और सत्याग्रह से ही फिर इनका विश्व-व्यापी महत्त्व है। यदि भारतवर्ष ने इन मार्गो-द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, तो नित्यप्रति की मार-काट से ऊब [illegible] निःशस्त्रीकरण के प्रयत्न मे लगा हुआ है, उसे

भारत नवीन मार्ग बतावेगा। ससार मे अन्याय के प्रतिकार के लिए जो युद्ध अनिवार्य माना जाता है, उसका स्थान यदि कोई ले सकता है, तो सत्याग्रह ही। (ज़ोर से) वैरा, बैरा! यह टेबिल उठाकर ले जाओ। प्राणेश! स्मरण रखो, निःशस्त्रो पर शस्त्रधारियो का सदा प्रहार कर सकना नैसर्गिक विषय के प्रतिकूल है। शस्त्रधारियो पर ही शस्त्रधारी प्रहार कर सकते है। इस सत्याग्रह आन्दोलन के सत्याग्रहियो पर जिस प्रकार की लाठियॉ चलाना आरम्भ हुआ है, स्त्रियो और बच्चो तक पर जिस प्रकार गोलियाँ बरसना आरम्भ हुआ है, संसार सदा इसे नही देख सकेगा। यह भीषण अन्याय और अत्याचार एक दिन सारे भू-मण्डल को कॅपा देगा और अंग्रेज़ी सत्ता तो बहुत छोटी वस्तु है, सारे संसार की सम्मिलित पाशविक शक्ति भी इसके सम्मुख थर्रा उठेगी।"

जब गोली लगने से मृतवत् मनोहरदास का शरीर त्रिभुवन-दास के मकान मे आता है तब लेडी त्रिभुवनदास मूर्छित हो जाती है। मूर्छा-भंग होने पर अर्द्ध विक्षिप्त लेडी त्रिभुवन-दास का प्रलाप सुनिए—

"सरस्वती—हॉ, हॉ, मानती हूँ, घृणा और हिंसा ही का यह परिणाम है। मै तो आरम्भ से ही उन्हे बुरा मानती हूँ। जिसके हृदय में घृणा और हिंसा होती है, वह पहले परायो को घृणा की दृष्टि से देखता है, उनकी हिंसा करता है, फिर अपनो की भी।

पिता ने पुत्र की हत्या की है; पिता ने पुत्र की ! (चुप होकर लेट जाती है ।)

मनोहरदास के होश मे आने पर चतुर्भुजदास, मनोहरदास, डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट विश्वेश्वरदयाल और त्रिभुवनदास का सम्भाषण होता है—

"चतुर्भुजदास—हाँ, हाँ, बेटा, तेरी प्रतिज्ञा पूरी होगी..... बेटा, मै कभी अपने लिए जिया ही नही। पहले तेरी दादी के लिए जीता था, फिर तेरे बाप के लिए। एक-एक पैसा खून का पानी कर तेरे बाप के लिए कमाया था। वह एक दिन सबका-सब तेरे बाप को दे दिया। अब तेरे लिए जिऊँगा। तेरे पिता का सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य मेरी समझ मे नही आता। जब तेरे पिता ने बी० ए० पास किया था, उस वक्त देश को स्वतन्त्र करने के सिद्धान्त पर वे मुझसे लडे थे; पर वही जब तू करना चाहता है, तब वे तुझसे भी लड़ रहे हैं। मैंने पिता होने के सबब उनसे हार मान ली थी; पर वे तुझ से नही मानते। न जाने उनका यह कैसा सिद्धान्त-स्वातंत्र्य है कि इसके पीछे ये अपने बाप से भी लड़े और बेटे से भी। तेरा देश-प्रेम भी अब तक मेरी समझ मे नहीं आया; पर हाँ, तेरी दादी का, तेरे बाप का और तेरा प्रेम समझ मे आता है। अब मरते-मरते शायद तेरे साथ और महात्मा गान्धी के आशीर्वाद से देश-प्रेम भी समझ में आ जाय।.....

"विश्वेश्वर दयाल—देश के लिए आपने अपना

अपनी सम्पत्ति, सब कुछ छोड़ा है, अपने प्राणो तक की आहुति देने मे आप पीछे नही हटे। आपके इस अद्भुत आदर्श और राजा साहब के इस समय के कथन ने आज मेरे हृदय मे भी महान् परिवर्तन कर दिया है, मेरे आन्तरिक चक्षु खोल दिये है। यद्यपि आज अपने देशवासियो पर गोली चलाने की आज्ञा देते समय भी मेरे हृदय की विचित्र दशा थी; परन्तु उस समय मैं अपने सम्बन्ध मे कुछ निर्णय नही कर सका था। अब मैंने भी अपने सम्बन्ध मे निश्चय कर लिया ..मै कल नौकरी से त्याग पत्र दे दूँगा।.....

"चतुर्भुजदास—(कुछ ठहर कर त्रिभुवनदास से) अब तुम क्या करोगे त्रिभुवन ?

"त्रिभुवनदास—(कुछ सोचते हुए)। मैं, मै, मै पिता जी, (कुछ रुककर) मैंने अभी कुछ निर्णय नहीं किया है। आप जानते हैं, मै हृदय से नही; परन्तु मस्तिष्क से शासित होता हूँ। मै इस प्रकार सस्ते वचन देने मे असमर्थ हूँ। (फिर कुछ रुककर) मुझे अभी सारे विपय पर सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य.. सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य... सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से विचार . ...विचार........ विचार.........करना.. .. .. ।"

स्पर्द्धा

स्पर्द्धा गोविन्ददास जी का एक मात्र एकांकी सामाजिक नाटक है। नाटक का क्षेत्र है 'यूनियन क्लब' नामक स्थान, जिसकी स्थापना आधुनिक सभ्य स्त्री पुरुषो के सच्चे 'यूनियन' (एकता) के

लिये हुई है, परन्तु आरम्भ मे ही इस यूनियन के प्रयत्न में बाधा उपस्थित हो जाती है। इस बाधा का कारण है 'यूनियन क्लब' के ही एक सदस्य और सदस्या के बीच का संघर्ष और इस संघर्ष का कारण है इन दोनो के कौंसिल के लिए एक दूसरे के विरोध मे खड़ा होना। स्त्री सदस्या का दल पुरुष सदस्य के आचरण पर आक्षेप करता है और पुरुष सदस्य का दल स्त्री सदस्या पर। स्त्री के आचरण पर आक्षेप और वह भी पुरुषो द्वारा ! 'शिवलरी' (पुरुषोचित बहादुरी) के सारे सिद्धान्तो को ताक मे रखकर ! पुरुष सदस्य के दल की इस अपुरुषोचित कार्यवाही पर विचार करने के लिए क्लब की स्त्री सदस्याओ के अनुरोध पर क्लब के सदस्यो की बैठक बुलायी जाती है और उसमे पुरुष सदस्य त्रिवेणीशंकर पर लानत का प्रस्ताव उपस्थित होता है। प्रस्ताव पर जो बहस होती है उसका कुछ अंश देखिये—

"त्रिवेणीशंकर—मोस्ट अनशिवलरस एक्ट से आपका क्या अभिप्राय है ? क्या आप समझते है कि हर परिस्थिति मे महिलाओ की रक्षा का भार पुरुषो के ही कन्धो पर है ?" ... महिलाओ की रक्षा का भार हर परिस्थिति मे पुरुषों के कन्धो पर नही है। वह समय अब बहुत कुछ बीत चुका है तथा शीघ्रता से बीतता जा रहा है जब महिलाओ की रक्षा का भार हर परिस्थिति मे पुरुषो पर था। उस समय पुरुष अपने सुख-दुःख की कोई चिन्ता न कर, अपने शरीर की परवा न कर अपने

प्राणो को हथेली पर रखकर महिलाओ की रक्षा करते थे; इतना ही नहीं, उन्हे गृह-देवियाँ मानकर उनका सत्कार और उनका पूजन तक करते थे।

"कृष्णाकुमारी—(खडी होकर) बीच मे बोलने के लिए क्षमा कीजिए।

"त्रिवेणीशकर—नही, नही, आप मुझे इन्टरप्ट कर सकती हैं। (बैठ जाता है।)

"कृष्णाकुमारी—आपके कथन से तो यह जान पड़ता है कि महिलाएँ पुरुषो के लिये कुछ करती ही न थी। सच तो यह है कि महिलाएँ तो अपने सुखो की उतनी चिन्ता भी न करती थीं और न आज करती है, जितनी पुरुष अपने सुखो की। वे तो पुरुषो के ही सुख मे अपना सुख मानती थी, उन्हे ईश्वरवत् समझती थी। (बैठ जाती है।)

"कुछ व्यक्ति—हिअर हिअर! हिअर हिअर!

"त्रिवेणीशकर—(खड़े होकर) हाँ, यह भी मै मानता हूं, मिस कृष्णाकुमारी, महिलाएँ भी पुरुषो को ऐसाही मानती थीं और अनेक आज भी मानती है, जैसा आप कह रही है। वे भी उनके सुखो मे ही अपना सुख समझती थी और इस प्रकार दोनो का परस्पर-सम्बन्ध ... .

"कृष्णाकुमारी—(खडी होकर) फिर इण्टरप्शन के लिए क्षमा कीजिए मिस्टर शर्मा। (शर्मा बैठ जाता है) जिस प्रकार का सम्बन्ध आप कहते हैं वह परस्पर नहीं था। महिलाओं पर

अधिकतर पुरुषो के अत्याचार ही होते थे और आज भी होते हैं। (बैठ जाती है।)

"त्रिवेणीशकर—(खडे होकर) यह भी होता था और होता है, यह भी मै मानता हूँ, मिस कृष्णाकुमारी, परन्तु इससे जिस बात का मै प्रतिपादन कर रहा था उसमे कोई अन्तर नही पडता। मै कह रहा था कि हर परिस्थिति मे पुरुषो पर महिलाओ की रक्षा का भार था, वह अब बदल रही है।

"विजया—अर्थात् निम्न क्षेत्र से महिलाएँ पुरुषो के बराबरी के क्षेत्र मे आ रही है।

"त्रिवेणीशंकर—पहले वे निम्नक्षेत्र मे थी, यह तो मै नही मानता, परन्तु, हाँ, इतना मानता हूँ कि उनके और पुरुषो के कार्यो का एक क्षेत्र नही था। मेरा तो अब भी यही ख्याल है कि निसर्ग ने ही दोनो को भिन्न-भिन्न प्रकार से बनाया है, अतः दोनो के कार्य-क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न होना ही स्वाभाविक है और दोनो में से कोई भी निम्न कोटि का नही कहा जा सकता। परन्तु जब महिलाओ ने उसी क्षेत्र मे पदार्पण किया है जिसमे पुरुष हैं, तब वे यह आशा नही कर सकती कि इस परिस्थिति मे भी पुरुष उनके रक्षक ही रहेगे। ऐसी परिस्थिति मे जिस प्रकार का सघर्ष पुरुषो-पुरुषो के बीच मे है, उसी प्रकार का सघर्ष पुरुषो-स्त्रियो मे होगा। उदाहरणार्थ, अब महिलाएं सेना का कार्य सीख रही है। यदि वे सेना मे भरती हुईं, जैसा कही-कही होने भी लगा है, और उन्होने युद्ध किया जैसा कही कहीं

वे करने भी लगी हैं, तो क्या वे आशा करती है कि स्त्री-सेना को देखते ही पुरुप-सेना अपने शस्त्र रख देगी और परित्राण शूरता के नाम पर अपने को नष्ट हो जाने देगी ?

"वर्मा—(मुस्कराते हुए) ऐसा तो होना ही चाहिए। महाभारत मे तो, जो पूर्व-जन्म मे स्त्री था, ऐसे शिखंडी के सामने आते ही भीष्म पितामह ने शस्त्र रख दिये थे।

"त्रिवेणीशंकर—(मुस्करा कर) शिखण्डी एक था और भीष्म पितामह सब नही हो सकते। यदि उस समय भी स्त्रियो की सेनायें होती, और वे युद्ध करने जाती तो पुरुप-सेनाएँ कभी शस्त्रो को न रख देती। खैर ! दूसरा उदाहरण लीजिए। अब महिलाएं पुरुपो से मल्लयुद्ध तक करने को अग्रसर हो रही हैं। कुछ ही दिन हुए, आस्ट्रेलिया के सिडनी नगर मे एक स्त्री-पहलवान गरिस एकोरो ने एक पुरुप पहलवान लेस बीर्स के साथ कुश्ती लड़ी थी। क्या महिलाएं यह आशा करती हैं कि वे पुरुपो को कुश्ती के लिए ललकारेंगी और इतने पर भी पुरुप या तो उनसे कुश्ती लड़ेंगे ही नही, क्योकि न लड़ने पर भी उनकी शूरता मे बट्टा लगता है, या परित्राण-शूरता के नाम पर चुपचाप उनके धक्का देते ही चित हो जायेंगे। यही बात अन्य क्षेत्रो के सम्बन्ध मे भी है। जहाँ जहाँ संघर्प होगा, वहाँ वहाँ जीवन सग्राम के नियम का उपयोग होगा, परित्राण शूरता का नहीं। यद्यपि मै सत्य कहता हूँ कि मै यह नहीं जानता कि मिस कृष्णाकुमारी के चरित्र के सम्बन्ध में वह विज्ञापन किसने

निकाला है, तो भी मै इतना कह सकता हूँ कि यदि मेरे चरित्र पर आक्षेप करने वाला विज्ञापन न निकला होता तो कदाचित यह भी न निकलता।

"वर्मा—कदाचित् क्यो, निश्चयपूर्वक न निकलता।

"त्रिवेणीशकर—नही, मिस्टर वर्मा, निश्चय पूर्वक तो नही कह सकता।

"वर्मा—क्यो ?

"त्रिवेणीशकर—इसलिए कि जिस प्रकार मिस कृष्णा-कुमारी के चरित्र पर आक्षेप हुये विना ही मेरे चरित्र पर आक्षेप हुआ, उसी प्रकार मेरे चरित्र पर आक्षेप हुए विना ही मिस कृष्णाकुमारी के चरित्र पर भी हो सकता था। एक वार संघर्ष होने के पश्चात् प्रहार किस ओर से होता है, यह कभी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। हाँ घात पर प्रतिघात होता है, यह स्वाभाविक नियम है। (कुछ ठहरकर) अब मुझे और कुछ न कहकर केवल इतना ही कहना है कि यदि आप लोग गंभीरता-पूर्वक विचार करके देखेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि यूनियन क्लब मे आज जो प्रश्न उठा है वह यथार्थ मे केवल मिस कृष्णाकुमारी और मुझसे सम्वन्ध नही रखता। यह तो स्त्री और पुरुष-समाज के पारस्परिक व्यवहार की जड़ से सम्वन्ध रखता है।

"कृष्णाकुमारी—मिस्टर शर्मा ने, इसमें सन्देह नही, अपने भापण मे विपय का तात्त्विक दृष्टि से प्रतिपादन किया है।

यद्यपि उनकी कही हुई अनेक बातो से मै सहमत नहीं हूँ, तथापि इतना मै अवश्य मानती हूँ कि यदि महिलाएँ समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे पुरुषो से स्पर्द्धा करना चाहती है तो उन्हे पुरुषो से परित्राण शूरता के नाम पर किसी बात की आशा न रखनी चाहिए, वरन् मै तो मिस्टर शर्मा के भाषण के पश्चात् उस समय का स्वप्न देखने लगी हूँ, जब महिला-वर्ग पुरुष-वर्ग की रक्षा का भार अपने कन्धो पर लेगा।

"त्रिवेणीशंकर—(मुस्करा कर) इण्टरप्शन के लिए क्षमा। (कृष्णाकुमारी बैठ जाती है।) पुरुष की रक्षा का भार तो एक प्रकार से अब तक भी आप लोगो के कन्धो पर ही रहा है, मिस कृष्णाकुमारी, और भविष्य मे भी रहनेवाला है। आप ही तो पुरुषो को उत्पन्न करती है। उनकी उस समय रक्षा करती है, जब आपके अतिरिक्त कोई उनकी रक्षा की सामर्थ्य ही नही रखता। उन्हे पाल-पोसकर आपही बड़ा करती है और तब अपनी रक्षा का भार उन्हे सौंपतीं हैं (बैठ जाता है।)

"कृष्णाकुमारी—(खड़े होकर) नही, पुरुषो के बड़े होने पर भी अब हम उनकी रक्षा करना चाहती हैं। अपनी सीमा-बद्धता से हम ऊब उठी है। हमारे समस्त दुःखो की जड़ं ये सीमाएँ ही है। ये सीमाएँ ही हमारे उत्कर्ष के लिए बाधक हैं। हम इन सीमाओ को तोड देना चाहती है।

"त्रिवेणीशकर—सीमा-बद्धता नैसर्गिक नियम है।

"कृष्णाकुमारी—कौन-सी सीमा नैसर्गिक है और कौन-सी

कृत्रिम, यह कहना सरल नहीं है, मिस्टर शर्मा। इतना ही नही आजतक के बड़े से बड़े दार्शनिक और तत्ववेत्ता भी एकमत से इस सम्बन्ध मे कोई निश्चयात्मकनिर्णय नही कर सके हैं। खैर, जो कुछ हो, इस स्पर्द्धा मे, इस संघर्ष मे हमने सोच समझ कर ही पैर रखा है और हम पुरुषो के द्वारा अपनी रक्षा नहीं चाहतीं। (विजया से) बहन, मै तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि तुम अपना प्रस्ताव वापस ले लो।"

मनुष्य समाज मे इस प्रकार के अपवादो का क्या स्थान है इस विषय मे इसी नाटक मे एक स्थान पर सुन्दर कथोपकथन हुआ है उसे भी सुनिए—

"वर्मा—डाक्टर खान, मै तो बीच बाजार मे छप्पर पर खडे होकर कहने को तैयार हूँ कि मनुष्य स्वभाव इस प्रकार के अपवादो से आनन्द पाता है। लोगो की जबान को आप कभी बन्द नही कर सकते, लोग खाते घर का है और बात परायी करते है। किसी के कानो को भी आप बन्द नही कर सकते। लोग इस प्रकार के अपवाद बडे चाव से सुनते और फिर उनमे नमक-मिर्च लगाकर दूसरो मे फैलाते है। जिन समाचार-पत्रो को हम लोकमत बनाने और जाग्रत करनेवाला समझते है, वे तक सदा इस प्रकार के अपवादो की मुंह-फाड़ कर प्रतीक्षा किया करते है। किसी भी समाचार-पत्र के कार्यालय मे जाकर पूछ आइये। पत्र के जिस अक मे इस प्रकार के अपवाद छपते है उसी की सबसे अधिक बिक्री होती

है। सबसे शीघ्र और अधिक यदि कोई समाचार फैलता है तो अपवादजनक। अपवाद मनुष्य का सबसे अधिक प्रिय विषय है। हम लोगो में से प्रत्येक मनुष्य अपवाद करता है, सुनता है, नमक-मिर्च लगा उसे बढ़ाता है और उससे आनन्द पाता है। पर, हां, इतना अन्तर अवश्य है कि मिस्टर अग्निहोत्री और उनके सदृश विचार वाले व्यक्ति वही कार्य बुरा कहते हुए करते हैं और मै उसे बुरा कहता ही नहीं। मैंने कहा न कि मैं तो अपवाद को समाज का जीवन मानता हूॅ। .... बिना इसके समाज का एक व्यक्ति भी सुखी नहीं रह सकता। देखिये, मिस्टर अग्निहोत्री, यह जीवन-पथ फिसलने से भरा हुआ है और मनुष्य, चाहे वह अपने को कितना ही ज्ञानवान क्यों न माने, एक अज्ञानी बच्चे से अधिक नहीं है। हरएक व्यक्ति बार-बार फिसलने मे फिसलता है। जब वह फिसलता है तब किसी फिसलते हुए बच्चे के समान चारो ओर दृष्टि घुमा घुमाकर देखता है कि कोई उसकी फिसलन देख तो नहीं रहा है, परन्तु उसी बाल-प्रवृत्ति के अनुसार दूसरो का फिसलना बड़े ध्यान से देखता और उसे बढ़ा-बढ़ाकर दूसरो से कहता है। यह इसलिए कि यदि कभी उसका फिसलना और गिरना किसी ने देखा या सुना हो तो दूसरे के फिसलने और गिरने से उसका फिसलना और गिरना छिप जाय। इस प्रकार यह अपवाद एक दूसरे की फिसलन को ढांककर हरएक को सुख देता है। अब कहिए, अपवाद अच्छी वस्तु है या बुरी। ...... और संसार

सदा ऐसा ही रहनेवाला है। एक दूसरे पर हँसते हुए समय व्यतीत करना यदि मूर्खता ही मान ली जाय तो इससे अधिक बुद्धिमानी की मै दूसरी कोई बात भी तो नही देखता।"

गोविन्ददास जी के शेष चार सामाजिक नाटक 'दलित कुसुम', 'बड़ा पापी कौन ?' 'विश्व-प्रेम' और सेवा-पथ भी उनके अन्य नाटको के ही समान हैं।

अन्य चार सामाजिक नाटक

'दलित कुसुम' मे एक विधवा की जीवन कथा है। कुसुम बाल विधवा है। वैधव्य के कारण वह इस लोक से दृष्टि हटा परलोक की ओर दृष्टि लगाती है। मन्दिर मे पूजा-पाठ करती है, पर मन्दिर का महन्त उसका सतीत्व नाश करने का प्रयत्न करता है। उसके बाल्यावस्था के एक साथी मदन नामक एक डाक्टर से उसके पुर्नविवाह की बात चलती है, पर वह भी उसे धोखा देता है और यह विवाह नही हो पाता। माता की मृत्यु के पश्चात् असहाय कुसुम अपने ससुर की शरण जाना चाहती है, पर वह उसे अपने बेटे को खाने वाली कहकर उसे घर मे नही आने देता। आश्रय को ढूढ़ती हुई कुसुम विधवाश्रम को जाती है, पर उसे वह औरतो को बेचनेवाला अड्डा पाती है। मिशिनरी सस्था मे जाती है, पर बिना ईसाई हुए उसे वहॉ भी आश्रय नहीं मिलता। इस प्रकार निराश्रित कुसुम जब सड़को पर भटक रही है तब वह कुज नामक बैरिस्टर की मोटर से दबती है। कुंज भी उसका एक सखा है। वह विलासी व्यक्ति

है और कुसुम की ही बाल्यावस्था की एक सगिनी यूथिका के साथ रहता है। अब कुसुम यूथिका के घर मे नौकरानी के समान रहती और नाना प्रकार के अपमानो को सहती है। आखिर जब यहाँ भी उसका रहना असभव हो जाता है तब वह कुंज के घर जाती है। कुज उसे आदर पूर्वक अपने घर मे रखता है, पर उसे कोई काम नहीं देता। इस प्रकार का जीवन भी कुसुम के लिए असह्य हो जाता है और वह वहाँ से भी जाने का विचार करती है, पर इसी समय कुंज उसे बालिका विद्यालय मे अध्यापिका का कार्य दिला देता है। बालिका विद्यालय की संचालिका कुसुम के करुण जीवन वृत्तान्त के कारण द्रवीभूत हो तथा उसके जीवन वृत्तान्त से समाज को शिक्षा मिलेगी, इस भावना से एक सार्वजनिक सभा मे उसके भाषण की व्यवस्था करती है। जब यह हाल विधवाश्रम के मैनेजर रसिकलाल को मालूम होता है तब विधवाश्रम की पोल खुलने के वजह से वह सार्वजनिक सभा मे कुसुम न बोलने पावे, इसकी व्यवस्था करता है। 'अरे यह तो वही महन्तवाली है' 'अब रन्डियाँ भी समाज सेवा करेगी' इत्यादि नारो के कारण कुसुम मूर्छित हो सभा में गिर पड़ती है और सभा भग हो जाती है। कुसुम सदृश पतित स्त्री को बालिका विद्यालय मे रखने के कारण बालिका विद्यालय का बायकाट होता है और कुसुम वहाँ से भी निकाली जाती है। यहाँ से रसिक लाल की एक कुटनी कुसुम को अपने घर ले जाती है और वहाँ कुसुम पर रसिकलाल

बलात्कार करता है। अब कुसुम के लिए अपना शरीर रखना असभव हो जाता है और वह आत्म-हत्या करने के लिए गंगा मे कूदती है, पर पुलिस उसे पानी मे से निकाल लेती है और उस पर आत्म-हत्या करने के अभियोग पर मुकदमा चलता है। अपना बयान देते हुए अभियुक्त और भग्न हृदय कुसुम की अदालत मे ही मृत्यु हो जाती है। इस नाटक के कोई उद्धरण यहाँ नही दिये जा रहे है। इसका यह कारण नही है कि इसके उद्धरण देने योग्य नही हैं पर कितने उदाहरण दिये जॉय, यह प्रश्न है। भारतीय स्त्री समाज पर जो अत्याचार हो रहे है, उनका यह नाटक जीता जागता चित्र है और इसे पढ़ते पढ़ते एक नही अनेक स्थलो पर आँसुओ की झड़ी लग जाती है।

'बड़ा पापी कौन ?' मे दो पापियो की कथा है। एक है पुराने ढग का पापी और दूसरा है नये ढग का। पुराने ढग का पापी वेश्यागामी और शराबी है। इन दुर्गुणो के रहते हुए भी वह उदार और सिर न झुकाने वाला व्यक्ति है। वह अपनी जमीदारी के किसानो को कष्ट नही पहुॅचाता, अपने मिल के मजदूरो पर कृपा रखता है। परन्तु इन दुर्गुणो और काम काज न देखने के कारण उसका घर और सपत्ति बर्बाद हो रहे हैं। नये ढग का पापी यद्यपि वे सभी पाप करता है जो पुराने ढग का पापी करता है, परन्तु अपनी व्यवसायी बुद्धि के कारण अपने घर का उत्कर्ष भी कर रहा है। अन्य पापो के साथ इस उत्कर्ष के लिए वह इस पुराने ढग के पापी से खरीदे हुए गॉव वे

किसानो को कष्ट देता है, इस पुराने ढंग के पापी से लिए हुए मिल के मज़दूरो पर अत्यधिक अत्याचार करता है और असेम्बली मे बजट की गुप्त बातो को जानकर असीम धन कमाता है। इन सब पापो को ढाँकने के लिए वह किसानो के लिए स्कूल खोलता तथा बहुत बड़े बडे दान भी देता है। पुराना पापी बदनाम है और नया पापी नेकनाम। परन्तु कौन पापी बड़ा है, यह नाटक की समस्या है। इस नाटक के भी उद्धरण इसलिए नही दिये जा रहे है कि कौनसा अश उद्धृत किया जाय और कौनसा नही, यह निर्णय करना कठिन है।

'विश्व-प्रेम' गोविन्ददास जी का प्रथम नाटक है। इसमें प्रेम तथा लालसा एवं व्यक्ति प्रेम तथा विश्व-प्रेम का अन्तर प्रतिपादित हुआ है।

'सेवापथ' उनका अन्तिम नाटक है। इसमे तीन युवक सेवा पथ पर चलना चाहते हैं। दीनानाथ शरीर से सेवा करना चाहता है, शक्तिमल राजनीति द्वारा और श्रीनिवास धन से। दीनानाथ को ही सफलता मिलती है।

विश्व-प्रेम मे जिन भावनाओ के हमे बीज दिखते है, सेवापथ मे उन्ही का विकास। इन दोनो नाटको के भी कुछ अंश यहा उद्धृत किये जाते है—

विश्व-प्रेम मे प्रमोदिनी अपने पुत्र मोहन से कहती है—
"वत्स! प्रेम और लालसा मे आकाश पाताल का अन्तर है। प्रेम मे कामना नही है, वासना नहीं है। जहाँ कामना नहीं है,

वासना नही, वही सुख है। ऐसा सुख केवल प्रेम से उत्पन्न होता है। इस प्रेम का पात्र समस्त विश्व है। ऐसे प्रेमी को कभी वियोग का दुःख नही, क्रोध नही, लोभ नही, मोह नही, कभी चिन्ता नही, कभी द्वेष नही। प्रेमी को किसी वस्तु विशेष की इच्छा नही। जहाँ कोई इच्छा हुई, वहाँ प्रेम नही रहा, वहाँ लालसा है। कामना और वासना का बन्धन ही पराधीनता है। यह पराधीनता ही दुःख की जड़ है। प्रेम और लालसा मे भारी अन्तर है। इसमे जितना सुख है, उसमें उतना ही दुःख है।.. . जिस मनुष्य को इस प्रेम-पथ पर चलना होता है उसे स्वार्थ का त्याग कर देना पड़ता है। इस नष्ट होने वाले शरीर की, इन अनित्य इन्द्रियो की लालसा से सदा के लिए उसे अपना मुख मोड़ लेना पड़ता है।.. ...

स्वार्थं भूल अब, प्रेमी वन कर, प्रेम सभी से ठान।
तज कर भेदभाव यह सारा, समता सब में मान॥
प्रेम रूप हो, विमल प्रेम की, कीर्ति सदैव बखान।
अन्त समय तक़ चल इस पथ, पर सफल जन्म तब जान॥

"मोहन—आज के पश्चात् किसी व्यक्ति या किसी स्थान से प्रेम करना क्या मेरे पथ से विचलित होना होगा ?

"प्रमोदिनी—कदापि नही, हाँ, उसमे लालसा का संमिश्रण होना अवश्य पथ भ्रष्ट होना होगा। बेटा ! विश्व-प्रेम का पथिक किसी भी व्यक्ति या स्थान से प्रेम कर सकता है।

"मोहन—अच्छा।

"प्रमोदिनी—विश्व क्या है? सारे व्यक्तियों और स्थानो की समष्टि ही तो विश्व बनाती है। निकटवर्ती व्यक्तियो और स्थानो पर प्रेम का प्रदर्शन होना स्वाभाविक है, क्योकि मनुष्य की पहुँच सारे विश्व में नही हो सकती। जिस प्रकार समुद्र की लहर जिस स्थान से उठती है, वहाँ अधिक ऊँची रहती है, और जैसे-जैसे, आगे बढ़ती जाती है स्वभावत: छोटी होकर विलीन हो जाती है, उसी प्रकार विश्व-प्रेमी का प्रेम भी निकटवर्ती वस्तुओ और स्थानों पर अधिक प्रदर्शित होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शेष विश्व से उसका प्रेम नहीं है। उसके हृदय मे किसी से प्रेम, किसी से घृणा नही रहती। सब पर प्रेम-दृष्टि उसका स्वाभाविक गुण हो जाता है।"

'सेवा-पथ' मे इन्ही भावनाओ का विकास हुआ है—

"दीनानाथ—देखो स्वार्थ का मूलोच्छेदन केवल विषय भोग के त्याग से ही नही होता।

"कमला—तो फिर विपय भोग का त्याग निरर्थक है, आप व्यर्थ ही इतना कष्ट पाया और पा रहे हैं।

"दीनानाथ—नही उनका त्याग तो आवश्यक है, बिना उनके त्याग के तो स्वार्थ-त्याग के पथ मे पैर रखना ही असभव है जिस प्रकार लंबी से लंबी यात्रा के लिए भी पहले कदम की आवश्यकता है उसी प्रकार मेरे स्वार्थ-त्याग के पथ की यात्रा के लिए विषय भोगो का त्याग पहला कदम, पहली सीढ़ी है। विषय

भोग के त्याग और अपने सिद्धान्त-त्याग की अटलता मे विश्वास होने पर अपने पथ पर चलने की आत्म-शक्ति अवश्य प्राप्त हो जाती है, परन्तु उसे स्वार्थ के आक्रमणो से बचाने का फिर भी सदा प्रयत्न करने की आवश्यकता है। अच्छे से अच्छा घुड़सवार बुरी से बुरी तरह गिरता भी है। मेरे पथ का पथिक भी बिना गिरे अपने निर्दिष्ट स्थान को नही पहुँच सकता। कीर्ति सुनने की लालसा और बुराई सुनने से क्रोध एव शोक ये दोनो भी तो स्वार्थ से उत्पन्न होते है। इस घाटी को लांघने और यदि इसके लाँघने मे पतन हो तो उस पतन के पश्चात् और दृढ़ता से उठकर चलने की आवश्यकता है।

"कमला—आप न जानें इस ससार को किस दृष्टि से देखते है? प्राचीन काल के बडे बड़े त्यागी ऋषि मुनियो और राजर्षि नरेशो तथा इस समय के बड़े बड़े नेताओ सभी को अपनी कीर्ति सुनने की अभिलाषा रही है; और है, किसी को अपनी बुराई अच्छी नही लगी, और न लगती है।

"दीनानाथ—जिन्हे भी यह लालसा रही है, या है, समझलो, वे अपने हृदय से स्वार्थ का मूलोच्छेदन नही कर सके; और यही कारण उनके पथ-भ्रष्ट होने का है। कीर्ति श्रवण की लालसा का स्वार्थ तो कमला, विपय भोग के स्वार्थ से भी बड़ा है। कई व्यक्ति इसीलिए प्रत्यक्ष मे विषय भोगो का त्याग कर देते है कि उनकी कीर्ति होगी। भीतर ही भीतर वे इन विपयो को भी पूर्ण रूप से नही त्यागते, छिपे छिपे वे उनका

उपयोग करते है। छिपकर जो कार्य किया जाता है वही पाप है। पाप का यह घड़ा जहाँ फूटा कि ऐसे व्यक्ति पथ-भ्रष्ट हुए; और वह प्राय: फूटता ही है।

"कमला—और जो लोग विषय भोग सचमुच मे त्याग देते हैं, जैसे आपने त्याग दिये हैं?

"दीनानाथ—उनके हृदय में भी कीर्ति श्रवण का स्वार्थ बना रहता है। सर्व साधारण से ऊँचे उठने का जो उद्योग करता है, उस पर सर्व साधारण की दृष्टि लगी रहती है। कोई किसी को, जहाँ तक उससे हो सकता है, अपने से ऊपर नही उठने देना चाहता, अत: ऐसे मनुष्यो का सदा छिद्रान्वेषण होता है। कुछ स्वार्थी कभी कभी इनके विरुद्ध मिथ्या अपवाद भी फैला देते हैं, चूंकि आज संसार मे बुराइयो से युक्त ही अधिक मनुष्य हैं, अत: इस प्रकार के मिथ्या अपवादो पर सर्वसाधारण को शीघ्र ही विश्वास हो जाता है। जिनमें अपनी कीर्ति सुनने का स्वार्थ विद्यमान है, ऐसे विषय भोगो को भी सचमुच त्याग देनेवाले व्यक्ति अपनी अकीर्ति श्रवण न कर सकने के कारण पथ भ्रष्ट हो जाते है। पर स्वार्थ है कमला, स्वार्थ। .... जो मेरी अकीर्ति हुई है इसे मै एक प्रकार की परीक्षा मानता हूँ, कमला, यह भी मेरे पथ की एक सीढ़ी थी। हृदय मे निर्बलता अवश्य आयी, पर विवेक ने......

"कमला—मै क्या कहूँ, आपके स्वार्थ त्याग का पथ ही अद्भुत है। अभी और भी सीढ़ियाँ शेष होगी?

"दीनानाथ— यह मै कैसे कह सकता हूँ ? जब मैंने इस पथ पर चलना आरम्भ किया, तब इसमे कितनी सढ़ियाँ है, यह मुझे कहाँ दिखता था ? पहले मै इस पथ पर चलने के लिए विषय भोग का त्याग ही यथेष्ट समझता था, पर उसके पश्चात् तो न जानें कितनी परीक्षाये देनी पड़ी, कितनी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ीं। एक इन्द्रिय ने विप्लव किया है, छोड़ी हुई वासनाओ का सुख स्मरण आया है, तुम्हारे और बच्चो के कष्ट ने सताया है, कदाचित् इसीलिए विवाह की इच्छा न रहते हुए भी विवाह हुआ था। अनेक लोगो ने एवं अनेक अभिन्न मित्रो तक ने मेरे पथ की नाना प्रकार की आलोचनाएँ की है, हँसी उडायी है।

"कमला—पर फिर भी आपने अपना पथ परिवर्तित कहाँ किया ?

"दीनानाथ—हाँ परिवर्तित तो नही किया, पर अनेक बार हृदय मे सन्देह अवश्य उत्पन्न हुआ कि मेरा पथ ठीक है या सचमुच ही ठीक नही है। अनेक बार भासित हुआ कि यह तो ऐसा पथ है कि जिस पर मै अकेला ही चल रहा हूँ, कोई साथी तक नहीं। ऐसे अवसरो पर घने जगल मे एक सकरी पगदडी पर चलने वाले अकेले पथिक की जो दशा होती है, वही मुझे भी अपनी जान पड़ी। ... (कुछ रुक जाता है।) परीक्षाओ को देने के समय, इन सब सीढ़ियो पर चढ़ने के समय हृदय ने इस प्रकार की निर्बलता नहीं दिखलायी। जब कीर्ति गई और अपयश हुआ तब हृदय भी एक बार निर्बल हो गया। हर्ष की बात है

कमला, कि विवेक ने अन्त मे इस परीक्षा मे भी उत्तीर्ण करा दिया, इस सीढ़ी पर भी चढ़ा दिया। (कमला सिर हिलाती है।) जिस प्रकार सोने की परीक्षा के लिए काली कसौटी है, उसी प्रकार हृदय की परीक्षा के लिए भगवान ने कदाचित् ये बाधाएँ बनायी है। बिना सान पर चढ़ाये जिस प्रकार रत्न मे दीप्ति नही आती उसी प्रकार बिना परीक्षाओ के हृदय भी कदाचित् प्रकाशित नही हो सकता।

"दीनानाथ—... ..ठहरो, ठहरो, कमला, तुमने देखा मेरे हृदय का स्वार्थ? पहिचाना इस स्वार्थ को? स्वार्थ! ओह! (सिर हिलाकर) यह स्वार्थ बड़ी अद्भुत वस्तु है। ..... सुनो मुझे शक्तिपाल और उसके दल की हार से हर्ष हुआ है। मै तो चुनाव मे खडा नही हुआ था, न मेरा कोई दल ही था, तुम कहोगे मेरा प्रत्यक्ष तो कोई स्वार्थ नही था।

"दीनानाथ—ठीक है, पर इसमे मेरा सूक्ष्म स्वार्थ था और उसका एक आधार है। जब शक्तिपाल एल-एल. बी. पास हुए थे उस समय इस बात पर वादविवाद हो गया था कि मुझे क्या करना चाहिए। शक्तिपाल ने मेरे इस त्यागपूर्ण दीन सेवा के सेवा-पथ को निरर्थक बता, राजनैतिक सत्ता द्वारा साम्यवाद की स्थापना करना अपना सेवापथ बताया था। उनका मत था कि व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागपूर्ण जीवन और दीनों की सेवा से कुछ नहीं हो सकता, और मेरा मत था कि हर बात के लिए सबसे पहले व्यक्तिगत जीवन के स्वार्थ त्यागपूर्ण होने

एवं जब तक दीन दुःखी है तब तक उनकी सेवा करने की आवश्यकता है। आज जब शक्तिपाल और उनका दल हार गया तब मुझे इसलिए हर्ष हुआ कि एक प्रकार से उनका मत हारा। विषय वासनाओ के त्याग के पश्चात् अपनी अकीर्ति सुनकर मुझे दुःख हुआ था, क्योकि कीर्ति सुनने का मेरा स्वार्थ मेरे हृदय मे शेष था। अब अपने विरुद्ध मत की हार सुन मुझे हर्ष हुआ है, क्योकि मेरा मत ही सर्वोत्तम सिद्ध हो, इसका मुझे स्वार्थ है।

"एक युवक—परन्तु पिता जी, अपने मत को सर्वोच्च सिद्ध करने का यत्न किए बिना, उस मत के द्वारा ससार की सेवा कैसी हो सकती है ?

"दीनानाथ—अपने मत के प्रचार का प्रत्येक को अधिकार है, पर दूसरे का मत मेरे मत से नीचा है और दूसरे के मत की हार होकर मेरे मत की विजय हो, यह प्रवृत्ति उस मत मे आसक्ति है। ससार के सम्मुख सर्वोत्तम मत आते ही, वह स्वयं उसे ग्रहण कर लेता है। तुम लोगो को ये बातें बहुत छोटी छोटी मालूम होती होगी पर हृदय की ये छोटी छोटी प्रवृत्तियाँ यथार्थ मे बहुत बड़ी शक्तियाँ हैं। इनके अव्यक्त रहने के कारण ये स्थूल दृष्टि से महत्व की नही दिख पड़ती, पर ससार मे विद्युत, वाष्प आदि अव्यक्त शक्तियो के समान ही ये भी बड़ी ही प्रबल होती हैं। यह स्वार्थ बडी सूक्ष्म, प्रबल और अव्यक्त शक्ति है, अब तक मै स्वार्थ पर विजय प्राप्त नही कर सका हूँ

अभी तक यह परास्त नही हुआ है। न जानें इस पथ मे अभी तक कितनी सीढ़ियाँ शेष है, न जानें अभी मुझे कितनी परीक्षाऍ और देनी हैं। हाँ इतना अवश्य है कि यात्रा लम्बी उसे ही जान पड़ती है जो थक गया हो। मैं अपनी यात्रा से अभी थोड़ा भी थकित नही हुआ हूँ, थोड़ा भी नही।

"दूसरा युवक—पिता जी, जैसे आप हो गये हैं वैसे हो जाने पर भी आप सदा अपने मे दोष ही देखा करते है।

"दीनानाथ—(कुछ सोचते हुए) हॉ, क्योकि मै सबसे बड़ा दोष अपने मे दोप न देखने को समझता हूँ।"

इस प्रकार का सेवक अपने पथ का सच्चा पथिक होने पर किस स्थान का अधिकारी हो जाता है इस सम्बन्ध में भी 'सेवा-पथ' का एक उद्धरण दिया जाता है—

"सरला—बहन, तुम्हारे पति माया के प्रतिद्वन्द्ता जगत से ईश्वरी शांति लोक में पहुँच गये है।

"कमला—अच्छा।

"सरला—इस लोक की यात्रा उन्होने मन, वचन, और कार्य के संयोग से अपने आपको वश मे रख, दैहिक और मानसिक पवित्रता एवं निष्काम प्रेम सहित, सेवा के मार्ग द्वारा की है। दूसरों के उद्धार का प्रयत्न करते करते उनका स्वयं का उद्धार आपसे आप हो गया है, उसके लिए सोचने का भी स्वार्थ उन्हे नही रखना पड़ा। इस मार्ग मे चलते हुए उन्होने अपने और

अपने कुटुम्ब के आधिभौतिक सुख रूपी कंटकों को पूर्ण किया है। समाज की आलोचना, हँसी और निंदारूपी दीवालो का लघन किया है। इस यात्रा के लिए बिदा के समय वे अकेले थे ..

"कमला—इसमे कोई सन्देह नही, बिल्कुल अकेले थे, कई बार स्वयं कहते थे कि इस पथ मे कोई भी मेरा पथिक नही।

"सरला—पर उन्ही अकेले को, जिनकी सेवा वे करना चाहते थे, उन्हे प्रेम के कारण अपना ही रूप दिखायी देने लगा और इस प्रकार उन्होने पहचान लिया कि मुझमे और सारी सृष्टि मे उसी एक ईश्वर का निवास है, जिसके ज्ञान के पश्चात् कोई कभी अकेलेपन का अनुभव ही नही कर सकता।

"कमला—क्या विशद्-कल्पना है।

"सरला—यही जीवन-मुक्त की अवस्था है बहन; यही शाति का लोक है, इस लोक की चारो दिशाएँ प्रेम है, जो सत्य के चन्दवे से ढकी है, दृढ़ता इस लोक की पृथ्वी है, निस्वार्थ सेवा की यहाँ पवन चल रही है और सच्चे एव स्थायी सुख का गान हो रहा है।"

"शैशव को अतिक्रान्त कर चढ विकास सोपान।
ज्ञान उच्चतम शिखर को प्रकृति नित्य गति मान॥"

यह गायन गाते हुए आकाश से एक युवक उतरता है। वह सितारो से सुसज्जित है। युवती पृथ्वी का मूर्तिमन्त रूप है और युवक आकाश का। दोनो मे इस विषय पर वादविवाद आरंभ होता है कि सृष्टि विकास के पथ से उन्नति कर रही है, या चक्रवत घूम रही है। आकाश स्वय उन्नत होने के कारण सृष्टि विकास के पथ से उन्नति कर रही है, यह कहता है और पृथ्वी स्वयं चक्रवत घूमने के कारण सृष्टि चक्रवत घूम रही है, यह कहती है। दोनो का यह सवाद श्रवण करने योग्य है—

"आकाश—देखो प्राणेश्वरी, इस सृष्टि मे सर्वप्रथम मेरी उत्पत्ति हुई है। मुझसे वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से तुम्हारे पृथ्वी तत्व की उत्पत्ति होकर फिर समस्त सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। मैंने सृष्टि की आरम्भिक अवस्था देखी है और उसके पश्चात् उसके उत्तरोत्तर विकास का अवलोकन किया है। मैंने देखा है कि हम पाँचो तत्वो से किस प्रकार तुम्हारा स्थूल स्वरूप और (उँगली घुमा तारागणों की ओर सङ्केत कर) तुमसे न जाने कितने गुने बड़े आकार के वे तुम्हारे बन्धुगण, अगणित सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और भूमण्डल उत्पन्न हुए है। अन्य भूमण्डलो के विकास का वृत्त न बता मै तुम्हारी सृष्टि के विकास का ही तुम्हे स्मरण दिलाता हूँ क्योकि वही तुम्हारे अधिक समझ मे आवेगा। क्या तुम भूल गयी कि किस विधि से तुम्हारा

"आकाश—यह कैसे ?

"पृथ्वी—देखो प्राणेश, अन्य प्राणियो से मनुष्य मे जो विशेषता है वह उसकी ज्ञान शक्ति ही है न ?

"आकाश—अवश्य ।

"पृथ्वी—इस ज्ञान-शक्ति के द्वारा ही तो मनुष्य ने सृष्टि की सबसे प्रधान बात—समस्त सृष्टि की एकता को जाना है ।

"आकाश—निस्सन्देह ।

"पृथ्वी—परन्तु इस एकता को जानने के पश्चात् जो यह आशा की जाती थी कि मनुष्य के हृदय मे प्रेम का प्रादुर्भाव होगा, प्रेम-द्वारा वह समस्त सृष्टि को अपने समान ही मान सभी को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करेगा और इस प्रयत्न मे उसे सच्चा सुख मिलेगा, वह आशा निराशा मे परिणत हो गयी ।

"आकाश—यह कैसे ?

"पृथ्वी—उसमे जो पाशविकता है, उसके कारण सामूहिक रूप से वह इस ज्ञान का भी अनुभव न करने के कारण उसके कर्म कभी भी इस ज्ञान के अनुरूप नही हुए। उसकी सभी कृतियाँ अपने, पराये और असमानता के भावो से भरी हुई हैं । अन्य को सुख देने से उसे सुख का अनुभव होना तो दूर रहा, अपने लिए वह दूसरो को कष्ट दे रहा है । स्वार्थवश सभी, अपने अपने साढ़े तीन हाथ के शरीरो की इन्द्रियो को तृप्त करने मे लगे हुए हैं, आधिभौतिक सुखो मे निमग्न है ?

हो। तुमने ही कहा कि सभी भूमण्डल मेरे सदृश गान गाया करते हैं। हाँ, मै यह नही कहती कि फिर उन्नति न होगी क्योकि अवनति की अन्तिम अवस्था नाश है। किसी वस्तु का सर्वथा नाश नही हो सकता, अतः जिस वस्तु का नाश दिखता है किसी अन्य रूप से उसकी पुनः उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के पश्चात् पुनः पतन होता है। इस प्रकार हर वस्तु प्रथक् एवं सामूहिक दोनों ही रूप से चक्र मे घूम रही है ? इस समय मनुष्य और उसके सङ्ग मेरी सृष्टि अवनति की ओर अग्रसर है, अवश्य अवनति की ओर अग्रसर है।

"आकाश—किन्तु प्राणाधिके, हर वस्तु को प्रथक् रूप मे देखने से ही उसका चक्रवत घूमना दिखता है। सामूहिक रूप से तो सृष्टि उन्नति की ओर अग्रसर है। मनुष्य जाति को सामूहिक दृष्टि से देखा जाय तो मै यह नही मानता कि मनुष्य सृष्टि की एकता के अपने ज्ञान का अनुभव नही कर रहा और उसके कर्म इस ज्ञान के अनुरूप नहीं हो रहे है। अन्य विकासो के अनुसार शनैः शनैः इस दृष्टि से भी उसका मानसिक विकास हो रहा है। आवश्यकता से अधिक आधिभौतिक सुखो की वासना जिस पाशविकता के कारण होती है उसका वह दमन कर रहा है, इसीलिए अपने आधिभौतिक सुखो के लिए अन्य को कष्ट देने की प्रवृत्ति मिट रही है, वरन् अन्य को सुख देने मे उसे सुख मिलने लगा है। आज जो अभूतपूर्व आधिभौतिक

में बाँधने का सर्वप्रथम व्यापक प्रयत्न तुम्हारे संसार के भारत देश मे हुआ था। यह प्रयत्न मगध के कपिलवस्तु नगर के जिस राजकुमार सिद्धार्थ ने किया था, तुम्ही को तो उनके धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था धरिणी। तुम मनुष्य की जिस पाशविक वृत्ति को उसका नाशकारक दुर्गुण मानती हो उसे सिद्धार्थ ने जीत, सृष्टि की एकता का अनुभव कर, उसके अनुरूप कर्मों द्वारा, मनुष्यो को जिस आचार प्रधान धर्म्म की मुख्यता बता, ससार की जिस प्रकार सेवा की थी, वह तुम्हे याद है या नही ? तुमको इस निराशामय कोहरे से बाहर निकालने के लिए मेरी तो आज यह इच्छा होती है कि मै एक बार तुम्हे, तुम्हारी सृष्टि के इन महा प्रयत्नो के कुछ दृश्य दिखाऊँ।

"पृथ्वी—दिखाओ गगन, दिखाओ, परन्तु उसके पश्चात् मै भी जो कुछ दिखाऊँगी उसे तुम को भी देखना होगा।

"आकाश—"हाँ हाँ; अवश्य देखूँगा, अवश्य।"

अब आकाश पृथ्वी को गौतम बुद्ध के वैभव, वैराग्य, बुद्ध गया मे तपस्या और बुद्ध पद प्राप्ति तथा सारनाथ मे उपदेश आदि के दृश्य दिखाता है। इसके पश्चात् अशोक के समय बौद्ध मत का जिस प्रकार प्रचार हुआ वे दृश्य भी अशोक की सभा के सहित दिखाता है।

पृथ्वी ये सब दृश्य चाव से देखने के पश्चात् बौद्धमत का

जिस प्रकार पतन हुआ और बौद्धमठो से वाम मार्ग की जिस प्रकार उत्पत्ति हुई वे दृश्य दिखाती है।

इन दृश्यो को देख कर आकाश कहता है—

"आकाश—देखो, प्राणेश्वरी, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थो को प्रथक् प्रथक् रूप से देखने पर उनका जन्म, विकास और क्षय दिख पड़ता है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न मतादिको को यदि प्रथक् रूप से देखा जाय तो उनकी भी उत्पत्ति, विकास और क्षय दिख पड़ना स्वाभाविक है, क्योकि प्रथक् प्रथक् पदार्थो की उत्पत्ति के पश्चात् उनका कार्य समाप्त हो जाने पर उनके स्वरूप का अन्त होता ही है। जब बौद्ध मत सृष्टि को उन्नत करने का अपना कार्य कर चुका तब उसका पतन हो गया। परन्तु सामूहिक रूप से तो सृष्टि उन्नति की ओर ही जा रही है और इस पतन से सृष्टि की सामूहिक उन्नति न रुक जाय इसलिए इस पतन के बहुत पहले तुम्हारे ही ससार मे महात्मा ईसा मसीह ने जन्म ले लिया था। उनके मत का प्रसार भी होने लगा था। महात्मा ईसा ने संसार के उपकार के लिए जिस प्रकार अपने प्राणो तक की आहुति दे दी वह भी तुम भूल गई दिखती हो। जान पडता है, ईसा के समय का स्मरण दिलाने के लिए मुझे तुम्हे उनके समय के भी कुछ दृश्य दिखाने होगे।"

अब आकाश पृथ्वी को ईसा के चालीस दिन के उपवास, शैतान के उसे ससार के भिन्न भिन्न देशो की संपदा दिखा उसके प्रलोभन, ईसा के गिरि-प्रवचन और ईसा की सूली आदि

के दृश्य दिखाता है। इसके पश्चात् ईसाई धर्म्म प्रचार के लिए ईसाइयो के अगणित त्याग तथा रोमन सम्राट कान्सटैन्टाइन द्वारा ईसाई धर्म्म के राजधर्म्म होने के भी दृश्य दिखाता है।

इन सब दृश्यो के देखने के पश्चात् पृथ्वी कहती है—

"पृथ्वी—जिन ईसाइयो को ईसा ने यह उपदेश दिया था कि यदि कोई दाहने गाल पर चपत मारे तो दूसरा गाल भी उसके सम्मुख कर दो, वे ईसाई ईसा के १९१४ वर्ष पश्चात् परस्पर किस प्रकार लड़े, यह तो हाल की बात है। यो तो गिनती के मनुष्यो को छोड़ अपने को ईसाई कहने वाले सभी ईसाई सदा ही ईसा के उपदेशो के विरुद्ध चलते रहे है, किन्तु इस सग्राम मे तो उन्होने अपने पतन की पराकाष्ठा दिखा दी।"

अब पृथ्वी सन् १९१४ के युद्ध के भीषण दृश्य आकाश को दिखाती है।

इन दृश्यो के देखने के पश्चात् आकाश कहता है—

"आकाश—देखो, प्रिये! मैंने तुम से कहा ही है कि हर वस्तु के पृथक् पृथक् देखने से उन्नति और अवनति दोनो ही दिख पडती है परन्तु सामूहिक दृष्टि से सृष्टि उन्नति की ओर ही अग्रसर है। बौद्धमत के समान ईसाई धर्म का कार्य समाप्त हो जाने पर उसका भी पतन हो गया, किन्तु सामूहिक रूप से सृष्टि की उन्नति न रुक जाय इसलिए तुम्हारे भारत देश मे महात्मा गान्धी ने जन्म लिया है। यह देखकर कि केवल धर्म प्रचार से मानव समाज अपने ज्ञान के अनुसार कर्म नही कर

सकता, केवल इतने ही से प्रेम का साम्राज्य और अहिंसा की स्थापना नहीं हो सकती, उन्होने राजनीति मे भी प्रेम और अहिंसा को प्रधान स्थान दिया है। अभी पन्द्रह वर्ष पूर्व जिस प्रकार का मानव संहार हुआ उसके लिए राजनीति उत्तरदात्री है। महात्मा गान्धी ने उसी का सुधार आरम्भ कर दिया है। फिर गान्धी के कार्य-क्रम में एक और विशेपता है।

"पृथ्वी—वह क्या ?

"आकाश—तुम्ही ने अभी कहा था न कि मनुष्य कहता है कि उसने यह घोर युद्ध भी अन्याय का दमन और न्याय की विजय के लिए ही किया है ?

"पृथ्वी—हॉ, कहता तो वह यही है।

"आकाश—नही, प्राणाधिके! यह केवल कहने की ही बात नही है। न्याय ने अन्याय को पाशविक बल के उपयोग से ही जीता है। गान्धी ने अन्याय पर विजय प्राप्त करने के लिए एक नवीन मार्ग 'सत्याग्रह' का अनुसन्धान किया है। इसमे पाशविक बल नही, किन्तु आत्मिक बल की आवश्यकता है। ससार के अब तक के इतिहास से यही सिद्ध होता है कि जो आज अपने को न्यायशाली कह पाशविक बल का उपयोग कर अन्यायियो का दमन करते है वे स्वयं समय पाकर अन्यायी हो जाते है। गान्धी के मार्ग मे यह बात हो ही नही सकती। गान्धी से सम्बन्ध रखने वाले दृश्य अत्यन्त नवीन है, अतः उनके स्वरूप का स्मरण मात्र दिला कर उनसे सम्बन्ध रखने

वाले दृश्य दिखा तुम्हारा समय मैं व्यर्थ के लिए नष्ट नही करना चाहता।"

महात्मा गान्धी का विशाल चित्र दिखता है, पर आकाश और पृथ्वी का मतभेद नही मिटता। पृथ्वी फिर अपने उसी गान को गाते हुए लुप्त होती है और आकाश अपने गान को गाते हुए अन्तर्ध्यान।

क्षितिज का दृश्य लुप्त होकर फिर शयनागार दृष्टिगोचर होता है। सोता हुआ युवक एकाएक अपनी आँखें मलता हुआ उठ बैठता है और युवती के पलँग के पास जाकर उसे जगाता है—

"युवक—उठो, उठो, प्रिये, उठो तो; मैंने आज बड़ा अद्भुत स्वप्न देखा है।"

युवती चौक कर उठ बैठती है और कहती है—

"युवती—देखो, प्रियतम, यह तुम्हारी बड़ी जबर्दस्ती है। रात को सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर जा रही है या चक्रवत घूम रही है इस पर वादविवाद करते करते आधी रात बिता दी और अब स्वप्न सुनाने . .. .।"

यही नाटक समाप्त हो जाता है।

यह नाटक 'फोटो प्ले' के रूप मे लिखा गया है और यदि इसका फिल्म बना तो वह केवल भारतीय नही परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की चीज़ होगी।

नवरस नाटक मे नवरस पात्रो के रूप मे काम करते है।

नवरस

वीर वीरसिंह, उग्र उग्रसेन, अद्भुत अद्भुतचन्द्र, भयानक भीम और वीभत्स ग्लानिदत्त नाम से पुरुष पात्र हैं। शान्त शान्ता, शृगार प्रेमलता, करुणा करुणा और हास्य लीला के नाम से स्त्री पात्र है। अपने अपने कथन और कार्य मे इन रसो का सुन्दर और स्वाभाविक प्रादुर्भाव हुआ है। इस नाटक मे सशस्त्र युद्ध पर सत्याग्रह की विजय दिखायी गयी है और उग्ररस से रहित होकर वीररस वीरसिंह का शृंगार रस प्रेमलता के साथ विवाह होकर नाटक की समाप्ति होती है। विचित्र कल्पना है, और इस कल्पना को चित्रित करने में गोविन्ददास जी को पूरी सफलता मिली है। इस नाटक के भी उद्धरण छाँटना कठिन है, परन्तु फिर भी नमूने के लिए केवल दो उदाहरण दिये जाते है—

अद्भुत रस अद्भुतचन्द्र और भयानक रस भीम का एक सवाद सुनिए—

"अद्भुतचन्द्र—ईश्वर भय से राज्य कर रहा है ?

"भीम— . मृत्यु क्या है ? ईश्वरी भय का मूर्तिमन्त स्वरूप। ईश्वर रचित दो विशाल नैसर्गिक वस्तुओ-आकाश और समुद्र मे क्या हो रहा है ? आकाश मे विद्युत और मेघ गर्जन युक्त झझावात पहले आता है फिर उससे पानी बरसता है। समुद्र की ऊँची ऊँची थपेड़ो से पहले सामना करना पड़ता है तब कहीं उसमें से आवागमन हो सकता है, मुक्ता आदि

रत्न निकलते हं। सारे देशो के धम शास्त्रो मे नरक का भय दिखाया गया है, जिससे मनुष्य समाज नीति पर चलता है और उसमे व्यवस्था वनी हुई है। . . भय प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उसका फल निश्चित रहता है और आप लोगो का कार्य केवल बड़ी बड़ी आशाओ से पूर्ण। आशा कभी प्रत्यक्ष नही रहती और न उस दिशा मे किये गये कार्यो का फल ही निश्चित रहता है। मै प्रत्यक्ष और निश्चित वस्तु चाहता हूँ। युद्ध ऐसा ही है। वह प्रत्यक्ष है और उसका फल निश्चित है—जीत या मृत्यु। इसीलिए वह भयानक है। आप ऐसी कोई वस्तु ससार मे वता सकते हैं जो भयानक न होने पर निश्चित हो ?

(भीम उसके मुख की ओर देखता है। अद्‌भुतचन्द्र कुछ सोचता है।)

"भीम—अजी सोचते क्या है ? कोई ऐसी वस्तु है ही नही। विष का फल निश्चित है क्योकि वह भयानक है। सबसे निश्चित वस्तु मृत्यु है और वह सबसे भयानक है। मृत्यु के सम्मुख सारी काल्पनिक वस्तुए, सूर्य के सम्मुख तारा-गणो के सदृश अस्त हो जाती है। उसके सम्मुख कोई दूसरी वस्तु ठहर ही नही सकती क्योकि वह भयानक है। ससार से बस भय की आवश्यकता है, केवल भय की।

"अद्भुतचन्द्र—पर मुझे यह निश्चितता ही पसन्द नही।

"भीम—क्योकि आप लोग कायर है।

"अद्‌भुतचन्द्र—नही, नही; इसलिए नही सेनापति जी ! सच्चा हार्दिक आनन्द ही अनिश्चितता से प्राप्त हो सकता है,

निश्चितता से नहीं। संसार का सारा विकास अनिश्चितता पर अवलम्बित है निश्चितता पर नही। जहाँ निश्चितता की अवस्था आयी कि विकास रुका।

"भीम—कैसे ?

"अद्भुतचन्द्र—तभी तक विकास होता है, जब तक यह भावना रहती है कि न जाने अभी कितनी बातो का और पता लगेगा। जहाँ यह भावना गयी कि विकास भी गया। विकास मे अद्भुतता है भय मे नही। मृत्यु मे निश्चितता है यह मै मानता हूँ, परन्तु उसकी निश्चितता और भयानकता भी तो स्वयं अपने को मार लेने से अधिक है। फिर आप वह क्यो नही कर लेते ?

"भीम—वह अवश्य अधिक निश्चित और अधिक भयानक है, परन्तु स्वयं मरने के पश्चात् मै उसे देख नही सकता। अतः चाहे दूसरे के लिए वह अधिक भयानक दृश्य हो, पर मेरे लिए नही। यदि आप मुझे ऐसी कोई विधि बतायें कि मै स्वय अपने को मारकर अपना मरना देख सकूँ, तो दूसरो को मारने की अपेक्षा पहिले मै यही करूँ।

"अद्भुतचन्द्र—आह ! आप भी मेरे स्थान पर आ गये। आप भी भविष्य मे दूसरो को मार सकने की अनिश्चित आशा पर ही तो जीवित रहते है। सेनापति जी ! अनिश्चित अवस्था मे रहना ही जीवन है, निश्चित मे नही। अन्तर इतना ही है कि आप दूसरो के मारने की भयानक आशा पर

जीते है और मै दूसरे के सुख के लिए कल्पना कारी वस्तुओ की उत्पत्ति की अद्भुत आशा पर। .... पर मनुष्य का हाल ही कितना है सेनापतिजी ! इस सारे विश्व मे, इस अनन्त आकाश मे, चमकते हुए इन असख्य तारा गणो के मध्य सूर्य एक गेंद सा दिखायी देता है। इस सूर्य मण्डल के अनेक ग्रहो और उपग्रहो के मध्य यह पृथ्वी एक क्षुद्र बिन्दु के समान है। फिर पृथ्वी और उससे कई गुना वडा सूर्य ही कौनसी वस्तुएँ है ? न जाने और कितने सूर्य एव नक्षत्र इस सूर्य से भी कई गुने वडे है और कई का तो अभी तक पता नही लगा है। इस पृथ्वी पर ही देखिये—गरजता हुआ महा-सागर, महा-हिमालय, अनेक भारी भारी पर्वत और सरिताएँ, अनेक मरुस्थल और अरण्य, ह्वेल मछली के सदृश जलचर और हाथियो के सदृश थलचर है। इन सबके सम्मुख मनुष्य क्या है ? विद्युत का एक छोटासा कण, पृथ्वी का एक क्षुद्र कप, सागर की एक क्षुब्ध कल्लोल एक मनुष्य क्या, न जाने कितने को नष्ट कर सकते है। वहाँ सेनापतिजी ! आपके वल की ही क्या, ससार म किसी के भी वल की चर्चा, उसपर गर्व, निरर्थक वात है।

"भीम—यह तुलना आप समान वस्तुओ की नही कर रहे है मन्त्री जी ! तुलना सदा समानता मे हुआ करती है। मनुष्यो का मिलान जड़ पदार्थो और पशुओ से नही किया जा सकता। मनुष्य छोटा है तो क्या हुआ। उसने इस सारी पृथ्वी को

अपने अधिकार मे कर रखा है। ग्रहो तक को अधिकृत करने की बात सोच रहा है और इन ग्रहो मे भी कदाचित् मनुष्य हो और वे ग्रह मनुष्य के ही अधिकार मे हो, किसने अब तक देखा है ? बड़े बड़े पशु मनुष्यो के वाहन है। वह इस विश्व की विशालता देख भयभीत नहीं हो सकता। हॉ, अपने आविष्कारो से संसार को भयभीत अवश्य करना चाहता है। फिर इन जड़ वस्तुओ की विशालता मे इच्छा स्वतन्त्र नही है, परन्तु मनुष्य की अल्पता मे इच्छा स्वातन्त्र का साम्राज्य है। सूर्य, ग्रह, पृथ्वी, वायु इच्छानुसार कोई कार्य नही कर सकते। क्या ये चाहे तो एक क्षण को भी अपनी गति से रोक सकते है ?

"अद्भुतचन्द्र—मेरा कहने का केवल इतना ही अभिप्राय था सेनापतिजी ! गर्व करना वृथा है। ईश्वरी शक्ति अद्भुत है।"

अद्भुत रस अद्भुतचन्द्र और हास्यरस लीला का एक कथोपकथन सुनिए—

"अद्भुतचन्द्र—हॉ राजकुमारी ! इसमे तो सन्देह नहीं। (कुछ ठहर कर) एक निवेदन आप से करना है।

"लीला—अवश्य कीजिये मन्त्री जी।

"अद्भुतचन्द्र—पर वह निवेदन तब करूँ जब आप यह वचन दे देवें कि जब तक मेरी अनुमति न हो जायगी, उसे आप किसी से कहेगी नही।

"लीला—आप जानते है मन्त्री जी ! मै किसी बात को इतनी महत्वशाली या आवश्यक समझती ही नहीं कि उसे

स्मरण रखने का कष्ट उठाऊँ और उसे किसी से कहने जाऊँ। हॉ, यदि आप मेरे द्वारा किसी से कुछ कहलाना चाहे तो मै उसे जैसी मेरी भाषा है उसके अनुसार अवश्य कह दूँगी, या जब कोई अवसर उस बात की पूर्ति का आयगा और मुझे उसका स्मरण आ जायगा तो कह दूँगी। अभी भी बहन के विवाह के सम्बन्ध मे भी मुझसे यही हुआ था।

"अद्भुतचन्द्र—उसका वृत्तान्त तो मुझे ज्ञात हो गया राजकुमारी! इस प्रकार तो किसी बात के प्रकट होने मे मै भी कोई आपत्ति नही समझता। (कुछ ठहरकर) तो मै निवेदन करूँ राजकुमारी?

"लीला—अवश्य।

"अद्भुतचन्द्र—आप मेरी धृष्टता को क्षमा करेगी।

"लीला—मेरे लिए धृष्टता ऐसी कोई वस्तु ससार मे है ही नही मंत्री जी! फिर कृति की धृष्टता तो कुछ दूर तक समझ मे भी आ सकती है पर शब्दो की धृष्टता हो क्या? न जाने इस शब्द को मनुष्य ने क्यो इतना महत्व दे रखा है।

"अद्भुतचन्द्र—और राजकुमारी! यदि मेरा कथन आपको युक्तिसगत न जान पड़े तो उसे पीछे लिया ही समझिये।

"लीला—न मुझे शब्दो की धृष्टता समझ मे आती और न कथन का पीछा लेना। जो शब्द निकल जाते है, वे पीछे किस प्रकार लिए जाते है, मेरी समझ मे नही आता। अच्छा कहिये, क्या कहना है, इस लम्बी प्रस्तावना का अन्त कीजिये।

"अद्भुतचन्द्र—राजकुमारी! आपका मुझ पर सदा प्रेम रहा है। अ...अ...अ (कुछ ठहर कर) ठहरिये, उस बात के कहने के पूर्व मै एक बात और जान लेना चाहता हूँ राजकुमारी!

"लीला—वह भी जान लीजिये।

"अद्भुतचन्द्र—मेरे अतिरिक्त और किसी को भी आपने प्रेम दृष्टि से देखा है?

"लीला—बहुतो को मन्त्री जी!

"अद्भुतचन्द्र—(आश्चर्य और खेद से) अच्छा!

"लीला—देखिये मै अपनी मृगी को अत्यन्त प्रेम दृष्टि से देखती हूँ। मै बदरिया से बड़ा स्नेह करती हूँ। मै बिल्ली को भी बहुत चाहती हूँ और मेरी शुकी की प्रीति मे भी मेरा हृदय बड़ा स्निग्ध है।

"अद्भुतचन्द्र—वह सर्वथा दूसरी बात है राजकुमारी!

"लीला—कैसे?

"अद्भुतचन्द्र—इस प्रकार तो मै भी संसार की अद्भुत वस्तुओ—सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, दामिनी, इन्द्रधनुप, उषा, सन्ध्या, पर्वत, वन, नदियाँ सागर सभी से प्रेम करता हूँ।

"लीला—तब?

"अद्भुतचन्द्र—परन्तु वे मनुष्य नही है। मनुष्यों मे आप किसी को प्रेम दृष्टि से देखती है?

"लीला—तो मन्त्री जी! मनुष्य प्रेम व्यवहार मे अन्य

वस्तुओ को साझीदार रख सकता है, मनुष्य को नहीं। फिर मै तो अनेक मनुष्यो से भी प्रेम करती हूँ।

"अद्भुतचन्द्र—(आश्चर्य और खेद से) अच्छा!

"लीला—देखिये माता, बहन सभी को चाहती हूँ।

"अद्भुतचन्द्र—आह! वह भी नही राजकुमारी!

"लीला—क्यो, क्या ये मनुष्य नही है?

"अद्भुतचन्द्र—पर ये स्त्रियाँ है। किसी पुरुप को आप प्रेम दृष्टि से देखती हैं?

"लीला—हाँ।

"अद्भुतचन्द्र—(आश्चर्य और खेद से) अच्छा! किसे?

"लीला—पिता को देखती थी, आज मधु को देखती हूँ।

"अद्भुतचन्द्र—वह भी सर्वथा दूसरी बात है राजकुमारी!

"लीला—तब?

"अद्भुतचन्द्र—(झुँझला कर) लीजिये मै सारी बात स्पष्ट ही कहे देता हूँ।

"लीला—अवश्य कहिये। मै तो समझती थी अब तक भी आप सब बातें स्पष्ट ही कह रहे है।

"अद्भुतचन्द्र—जिस प्रेम के कारण आलिंगन, चुम्बन इत्यादि मे (कुछ ठहर कर) आनन्द आता है, उस प्रेम की दृष्टि से।

"लीला—आह तब तो यह तीसरी ही बात हो गयी। इसका भी उत्तर लीजिये। मेरी बिल्ली को मै आलिंगन करती हूँ

मन्त्री जी ! अपनी बंदरिया को भी। उनके मैं चुम्बन लेती हूँ मन्त्री जी ! बड़ा आनन्द भी आता है।

"अद्भुतचन्द्र—(और भी झुँझला कर) वह भी दूसरी बात है राजकुमारी ! वे मनुष्य नहीं हैं।

"लीला—यह चौथी बात है। मैं मधु को आलिंगन करती हूँ, उसके भी चुम्बन लेती हूँ।

"अद्भुतचन्द्र—ओह ! आपको कोई बात समझाना भी बहुत कठिन है। (कुछ सोच कर) अच्छा दूसरी प्रकार से पूछता हूँ।

"लीला—इस नवीन प्रकार का भी प्रयोग कर लीजिये।

"अद्भुतचन्द्र—आपको आलिंगन करने और आपके चुम्बन लेने का भी अधिकार आपने किसी को दे दिया है क्या ?

"लीला—जब से मैं उत्पन्न हुई तभी से। पिता जी को दिया था। माता जी को है, बहन को है, मधु को . . . . .

"अद्भुतचन्द्र—ओह ! तब आपको किस प्रकार समझाया जाय।

"लीला—और कोई नवीन प्रकार के आविष्कार से। कई तो हो चुके। देखिये गिनकर बताती हूँ। पहला—प्रकार . . . !

"अद्भुतचन्द्र—(बात काट कर) अच्छा, अच्छा सुनिये। नवीन प्रकार से पूछता हूँ।

"लीला—अच्छी बात है।

"अद्भुतचन्द्र—आपने अपना विवाह करने के सम्बन्ध से विचार किया है ?

"लीला—हाँ किया है, अच्छी प्रकार किया है।

"अद्भुतचन्द्र—(बहुत ही उदास होकर) तब तो आपने किसी पुरुष को चुन लिया होगा राजकुमारी !

"लीला—आप उदास क्यो हो गये ? मैने किसी को चुना नही है।

"अद्भुतचन्द्र—(जल्दी से) तो क्या इसके लिए मै अपने को आपके अर्पण कर सकता हूँ।

"लीला—हाँ क्यो नही, आपको अपनी इच्छानुसार अपने को अर्पण करने का अधिकार है। इसमे मुझे पूछने की क्या आवश्यकता है।

"अद्भुतचन्द्र—(हर्ष से) मेरा सौभाग्य। फिर प्रति अर्पण।

"लीला—(मुस्करा कर) ओह ! अब तो आप विज्ञान की भाषा मे बात करने लगे। विज्ञान अद्भुत होता ही है। पर मै तो उस पदार्थ के समान हूँ जो काउन्टर स्टीम्युलस नही देता।

"अद्भुतचन्द्र—आपको जिस प्रकार समझाना कठिन है, उसी प्रकार समझना भी कठिन है।

"लीला—(मुस्कराकर) मन्त्री जी मैने विवाह न करने का निश्चय किया है।

"अद्भुतचन्द्र—(आश्चर्य से) यह क्यो राजकुमारी ? आपका रूप, आपका यौवन आपका सांसारिक सुख ... .

"लीला—समझी। मत्री जी ! पर विवाह से उसे सुख हो सकता है जो सदा एक दूसरे के साथ रहना चाहे और उस सग से न ऊवे। मै तो एक के सग से बहुत शीघ्र ऊब जाती हूँ। माँ के साथ बहुत समय नही रह सकती उन्हे रोने का अभ्यास है मुझे हँसने का। वे पानी बरसाती है, मै बादल गरजाती हूँ। मै सदा न हँसू तो मेरा हृदय मसोस सा जाता है। कभी कभी उनके सम्मुख हँसना दुस्साध्य हो जाता है। बहुत काल तक बहन के साथ भी मै बातचीत नहीं कर सकती। उनके प्रेम की लगातार बाते मुझे पनचक्की के अविरल प्रवाह सी जान पड़ने लगती है। ज्ञात होता है मेरा हृदय उसीमे चक्कर लगाने लगा है। तेली का बैल भी बिना आँख बाँधे एकसा चक्कर नही लगा सकता, फिर मेरी तो बात ही क्या। मधु को बहुत समय तक गोद मे रखती हूँ तो उसका भी मुझे भार लगने लगता है। अपनी बंदरिया, मृगी, शुकी और बिल्ली मे से भी मुझे एक का साथ अच्छा नही लगता। इसलिए मैंने चार को पाला है। विवाह से तो मै घृणा करती हूँ मंत्री जी! घृणा। फिर मनुष्यो मे पुल्लिग और स्त्रीलिंग के विवाह मे तो स्त्रीलिंग मनुष्य को पुल्लिग मनुष्य के हाथ मे अपने आपको एक प्रकार से बेच देना पड़ता है। (कुछ ठहर कर) क्यो मन्त्री जी ! ठीक है न ?

"अद्भुतचन्द्र—(बहुत ही उदास होकर) क्या कहूँ राजकुमारी।

"लीला—विचार कर कहिएगा और यदि किसी से विवाह कर लेवें तो अनुभव से देखियेगा।"

कुछ संक्षिप्त उद्धरण

गोविन्ददास जी के सभी नाटक साहित्यिक भावों से भी ओत प्रोत भरे हुए है। उपमाओ तथा उत्प्रेक्षाओं, मालोपमाओ तथा रूपको एव अन्य अनेक अर्थालंकारो का गद्य मे ही समावेश है। अनेक स्थलो पर एक, एक, दो, दो छोटे छोटे वाक्यों मे ही ऐसे भाव व्यक्त किये गये हैं कि वे हृदय मे चुभ से जाते हैं और गद्य मे ही उन वाक्यो को पढ़ते पढ़ते हिन्दी के एक महाकवि का निम्नलिखित दोहा स्मरण आये बिना नहीं रहता—

सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गंभीर॥

इस प्रकार के कुछ वाक्यो को स्थानाभाव के कारण उनके केवल दो सामाजिक और एक ऐतिहासिक नाटक से हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"ये तुम्हारे दोनो बच्चे क्या हैं; श्वेत और गुलाबी कमल के सुन्दर मिश्रण। तुम्हारे संग इन बच्चो का खेल ज्योत्स्ना के साथ कमल कुसुमो का खेल था।" —ईर्षा

"सुखी ग्रह रूपी हरे-भरे विपिन के लिए यह ईर्षा दव की चिनगारी है जो भीषण कृतियो रूपी वायु से प्रज्वलित हो इस सुखमय विपिन को नष्ट कर देगी।" —ईर्षा

"कितनो का उपकार किया जाता है इस सख्या से परमार्थ नही तौला जा सकता; वह तो परमार्थ करने वाले के भावो के बाटो से तोलने की वस्तु है।" —ईर्षा

"आँसू तो नेत्रो रूपी घड़ो मे भरे ही रहते है; ढरका दिया और बह चले।" —ईर्षा

"प्रेम का अन्तिम रूप प्रेमी मे अपने को विलीन कर देना है, वही करूँगी।" —ईर्षा

"जब तुम्हारा मुख मेरे सम्मुख आता है तब बहरे मनुष्य के समान मेरी दृष्टि तीव्र हो जाती है और जब तुम्हारा शब्द सुनती हूँ तब अन्धे मनुष्य के समान कान।" —ईर्षा

"प्रेमियो की सारी बातें उस खिलौने के सदृश जिसकी पैंदी मे एक भारी सी वस्तु लगी रहती है, अन्त मे प्रेम शब्द पर ही लौट आती है।" —ईर्षा

"जब तुम्हारे पत्र मुझे मिलते हैं तब मुझे उनके अक्षर प्रेम की बूँदो के समान, पक्तियाँ प्रेम-समुद्र की ओर बढ़ती हुई प्रेम

सरिताओं के समान और सारा पत्र प्रेम-सागर के समान दिखायी देता है।" —ईर्षा

"प्रेम मे प्रायः यह देखा गया है कि दो प्रेमियो मे जो निर्बल होता है वही अधिक त्याग भी करता है। इसका यह अर्थ नही है कि सबल के हृदय मे निर्बल की अपेक्षा कम प्रेम रहता है, परन्तु सबल होने के कारण निर्बल से वह कदाचित् अधिक ग्रहण करने की शक्ति रखता है।" —ईर्षा

"भीतर की कालिमा से रँगी हुई कलम बाहर चटकीले रँगो के चित्र नही बना सकती। पैशाचिक इच्छाएँ देवताओ सा वाह्य मुख नही रहने दे सकती। फूहड़ता से सौन्दर्य की रचना नही की जा सकती। दुष्टता से अच्छाई का निर्माण नही हो सकता।" —ईर्षा

"अपनी ही धूर्तता के लगातार पान से अपना ही जी मचलाने लगता है और ऐसे अवसर भी उपस्थित होते है जब धूर्त अपनी ही धूर्तता का सर्व साधारण के सामने वमन करने के लिए आतुर हो उठता है।" —ईर्षा

"धूर्त और सत्यवादी के अहँकार मे उतना ही अन्तर है जितना सर्प और केचुए के लहराने मे।" —ईर्षा

"मनुष्य को उसके कर्म सूर्य से भी अधिक प्रकाशवन्त और अमा रात्रि से भी अधिक श्याम बना सकते है।" —ईर्षा

"एक दिन आयगा जब समाज के लिए इन दुखियो की

आहे सर्प की फुंकार और इनके आँसू तूफानी नदियाँ हो जायँगी।"
—ईर्षा

"जब निश्चित नैतिक सिद्धान्तो के पथ से जीवन-शकट विचलित होता है तब वह अन्धतम गर्त मे गिरे बिना बीच मे कही रुक ही नही सकता।"
—ईर्षा

"हृदय के तूफान के समय बाहरी शान्ति असभव है।"
—ईर्षा

"वह कष्ट तो एक विचित्र प्रकार का कष्ट था। कदाचित् उस कष्ट के समान, जो पृथ्वी को नये पौधो के उगते समय होता होगा।"
—दलित कुसुम

"दो शब्द कह कर मेरे कानो की क्षुधा या थोड़ा सा मुस्करा कर मेरे नेत्रो की तृषा को शान्त करो।"
—दलित कुसुम

"उसके शब्द तालाब मे पत्थर फेंकने के शब्द से अधिक प्रभाव उत्पन्न न कर सके।"
—दलित कुसुम

"मै उस स्वरूप को शुद्ध से शुद्ध जल का कमल मानती थी, पर वह तो गॅदले से गॅदले कीचड का घोघा निकला। मुझे वे वाक्य सुधा से लगते थे, पर उनमे तो वह क्षार भरा था जो शर्करा में रहता है, और जिसका स्वाद नही आता।"
—दलित कुसुम

"सुख का और मेरा न जाने कितने दीर्घकाल से वियोग हो गया है।"
—दलित कुसुम

"उन्होंने मेरे शान्ति चाहने वाले जीवन पर युद्ध की घोषणा की है।"
—दलितकुसुम

"जब कभी भी मनुष्य बुरे ढंग से बातचीत करने पर कटिबद्ध होता है, तब सब से पहले वह उपदेश पूर्ण भाषण की शरण लेता है।"
—दलित कुसुम

"मनुष्य का प्रगति, प्रगति चिल्लाना पागलपन, मनुष्यता, मनुष्यता चिल्लाना स्वप्न और क्रान्ति. क्रान्ति चिल्लाना धोखा है।"
—दलित कुसुम

"मेरा सारा जीवन एक 'रहित' शब्द के अन्तर्गत है।"
—दलित कुसुम

"चाहे कैसा ही प्रेम क्यो न हो, उसकी पहली निश्वास बुद्धिमत्ता की अन्तिम निश्वास है।"
—कुलीनता

"कैसा उसका सौन्दर्य था? अर्द्धविकसित कुसुम अथवा द्वितीया की चन्द्ररेखा से ही उसकी तुलना की जा सकती है। (कुछ रुककर घृणा से) नही, नहीं एक वस्तु से और; प्रज्वलित अग्नि-शिखा से।"
—कुलीनता

"कुलीनता मे प्रेम पारदराशि के समान रहता है, जिसे स्थिर रखना कठिन ही नहीं असंभव है।"
—कुलीनता

"सच्चा साहस मृत्यु से नही डरता और न सचा चरित्र-बल सत्ता से।"
—कुलीनता

"शत्रुओं के पाद-चुम्बन की अपेक्षा तो क्षण भर के लिए उनके मस्तक पर प्रज्वलित होकर मर जाना कहीं अच्छा है।"

—कुलीनता

"जिस समाज का मस्तिष्क और शास्त्रीय-ज्ञान मोल लिया जा सकता है, उसके उद्धार की कोई संभावना नहीं रह जाती।"

—कुलीनता

"जब किसी महान सिद्धान्त की रक्षा के लिए रक्तपात होता है तब उस रक्तपात पर वह सिद्धान्त मुस्कराता है। रक्तपात से समाज पर जो घाव लगते हैं उसे समाज इस सिद्धान्त की मुस्कराहट को देख कर भूल जाता है।"

—कुलीनता

"हृदय कोई रथचक्र नहीं कि जिधर घुमाया उधर ही घूम जाय।"

—कुलीनता

"संसार का कोई भी युद्ध बिना किसी विशेष, और महान उद्देश्य के सफलता पूर्वक नहीं लड़ा जा सकता : इसीलिए इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जहाँ छोटी छोटी सेनाओं ने बड़ी बड़ी सेनाओं पर विजय प्राप्त की है।"

—कुलीनता

"सबसे बड़ी निर्बलता, निर्बलता का प्रदर्शन है।"

—कुलीनता

"प्रतिहिंसा हिंसा पर आघात कर सकती है, उदारता पर नहीं।"

—कुलीनता

ऐसा कोई मनुष्य नही जो अपराधी न हो; ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसे क्षमा की आवश्यकता न हो।" —कुलीनता

"ससार मे कार्य को महत्व है और कार्य ही कुलीनता की कसौटी है।" —कुलीनता

"मित्र के संग जीवन के दुख भी सुख से सहन किये जा सकते है, पर मित्र के विना सुखीजीवन भी भार स्वरूप हो जाता है। ससार मे सब से बड़ा दुख मित्र का न होना है।" —कुलीनता

"पश्चात्ताप निरर्थक है। पश्चात्ताप से मनुष्य को पीछे की ओर देखना पड़ता है। सुख या दुख, किसी भी परिस्थिति मे, मनुष्य को पीछे न देख कर सामने की ओर ही दृष्टि रखनी चाहिए।" —कुलीनता

गोविन्ददास जी के नाटको का मिलान हिन्दी के अन्य नाटककारो के नाटको से नही किया जा सकता। पहले तो हिन्दी मे नाटक ही इने-गिने है, और जो है वे गोविन्ददास जी के 'स्कूल' के न होकर 'रोमान्टिक' स्कूल के है। गोविन्ददास जी इबसन के अनुयायी है, अन्य नाटककार शेक्सपियर के। हिन्दी क्या अन्य भारतीय भाषाओ में भी अभी गोविन्ददास जी के 'स्कूल' के नाटक नही लिखे गये है, और लिखे भी गये होगे तो बहुत कम। गोविन्ददास जी के नाटको का इबसन, बर्नार्ड शा आदि पश्चिम के किसी भी सफल नाटककार से

सफलता-पूर्वक मिलान किया जा सकता है। इतने पर भी यह कहे बिना नही रहा जा सकता कि रग मंच पर लाने के लिए इन नाटको में काफी परिवर्तन आवश्यक है। बात यह है कि योरप मे छपने के पूर्व नाटक रग मच पर खेल लिये जाते है। भारत मे हिन्दी का कोई रग मच ही नही। इसके सिवा गोविन्ददास जी के नाटक गंभीर साहित्य के अग है, सरल साहित्य के नही। जहॉ गोविन्ददास जी गभीर भावो को व्यक्त करने मे सफल हुए है, वहॉ उन्हे हास्य रस आदि के प्रतिपादन मे विफलता ही मिली है।

यद्यपि गोविन्ददास जी के नाटको का हिन्दी मे यथेष्ट आदर हुआ है, 'कर्तव्य' नाटक कलकत्ता विश्व-विद्यालय के एम० ए० कोर्स तक मे नियुक्तहै, फिर भी जैसा आदर होना चाहिए वैसा नही हुआ। इसके कारण है। सबसे पहला कारण तो यह है कि आदर प्रचार पर निर्भर है और हिन्दी भाषा के ग्रन्थो का प्रचार ही बड़ी कठिनाई से होता है। दूसरा कारण यह है कि उनके सभी नाटक प्रकाशित नही हुए और जो प्रकाशित हुए है उनके प्रचार का कोई उद्योग नही किया गया। और तीसरा कारण यह है कि हिन्दी मे आलोचको की भयानक रूप से कमी है। परन्तु जो वस्तु स्थायी महत्व की है, उसके प्रचार मे यदि विलंब भी हो जाय, तो इसमे चिन्ता की कोई बात नही है। गोविन्ददास जी के नाटक क्षणिक महत्व नही रखते। उनमे से अधिकांश मनुष्य जीवन की स्थायी

समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं और कभी न कभी इन नाटकों को उपयुक्त स्थान उन्हें प्राप्त होकर ही रहेगा। महाकवि भवभूति ने कहा था—

"येनाम के चिदिह्न· प्रथयन्त्यवज्ञां।
जानन्तु ते किमपितान् प्रतिनेषयत्न ॥
उत्पत्स्यतेऽस्ति ममकोऽपि समानधर्मा।
कालोह्यय निरवधिर्विपुलाच पृथ्वी ॥"

कई विद्वानों को गोविन्ददास जी के नाटक इतने पसन्द आये है कि इनके अंग्रेज़ी, मराठी और गुजराती अनुवाद का प्रयत्न हो रहा है। पराधीनता के कारण हमे अपनी आँखो की अपेक्षा शायद दूसरे की आँखो से अधिक दिखायी देता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सदृश विभूति को हम तब तक पूर्ण रीति से न पहचान सके जब तक उन्हे 'नोबल' पुरस्कार नही मिला। गोविन्ददास जी के नाटको का अँग्रेज़ी अनुवाद ही शायद उन्हे उनका समुचित स्थान दिलावेगा।

जिस व्यक्ति ने अपने अढ़ाई वर्ष के जेल जीवन मे तेरह नाटक लिख डाले, और वे भी उत्तम कोटि के, वह यदि अपना समय इस कार्य मे लगावे तो किसी भी पश्चिमी साहित्यकारो के सदृश जिल्दें की जिल्दे लिख जाने वाला लेखक हो सकता है।

गोविन्ददास जी के मस्तिष्क मे नाटको के लिए न जाने कितनी समस्याएँ, कितनी कथाएँ, कितने चरित्र, कितनी

कल्पनाएँ, उठा करती हैं। कभी कभी वे उन्हे नोट भी कर लेते है, पर अधिकतर तो इस प्रकार नोट करने का भी उन्हे समय नही मिलता। मस्तिष्क के ये भाव उठते और विलीन हो जाते है। 'विश्व-प्रेम' नाटक के सन् १९१७ मे लिखने के बाद बारह वर्ष के पूरे एक युग के पश्चात् उन्होने लेखनी उठायी थी। १९३४ को ५ वर्ष फिर बीत गये। मालूम नही अब फिर कब लेखनी का आह्वान होता है।

समाप्त